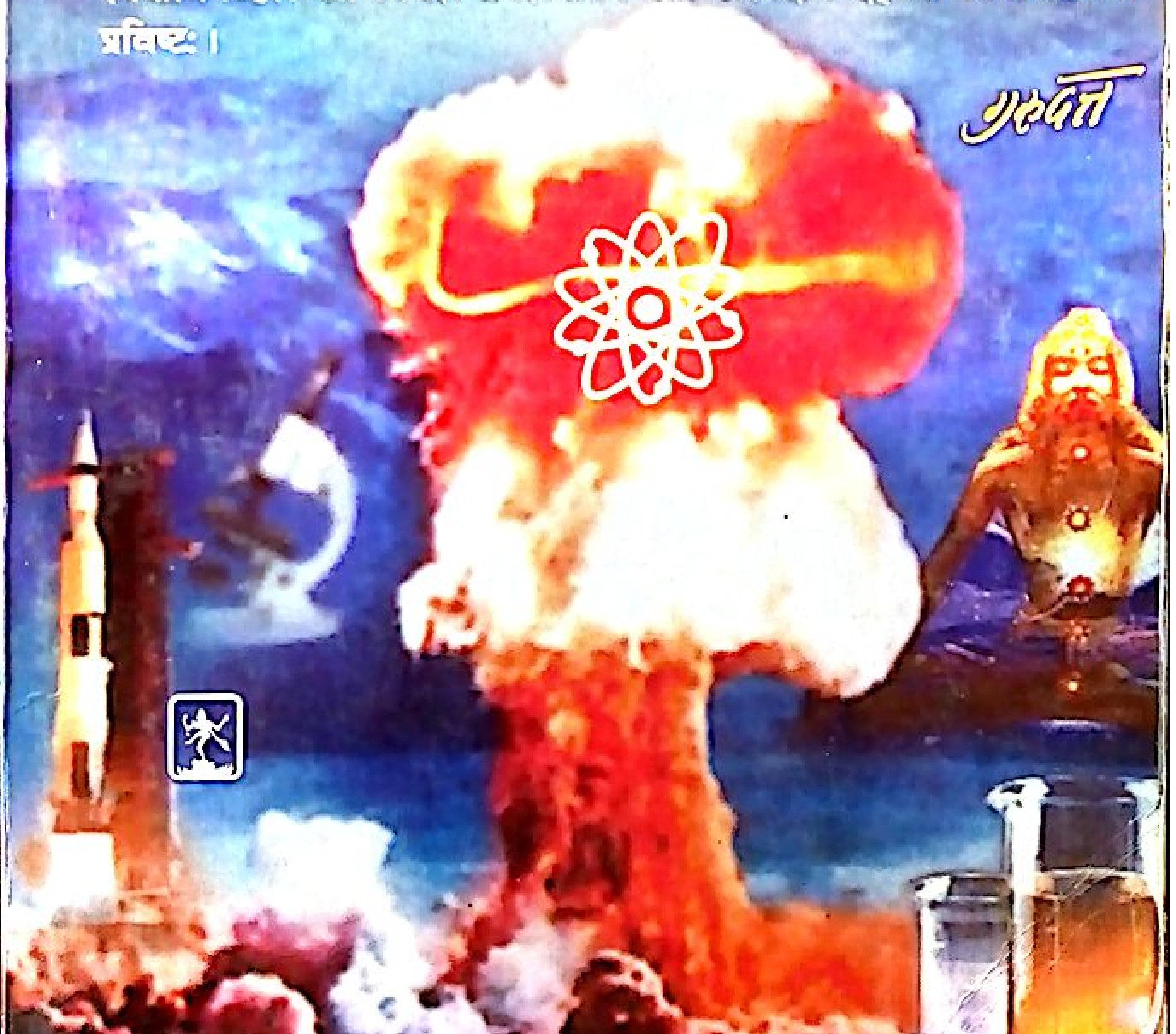
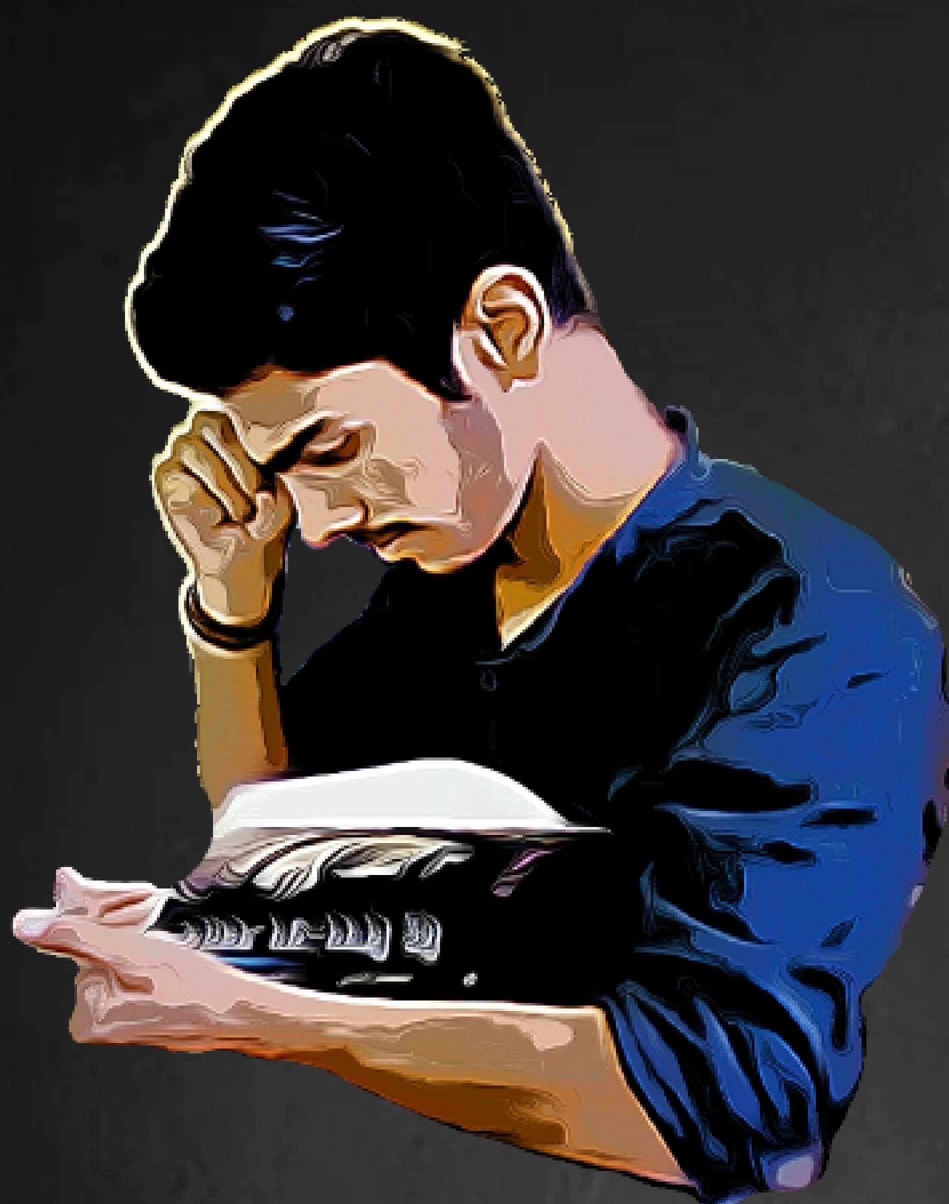
सायंस और वेद

यत्र आदित्यमण्डले सुपर्णाः सुपतनाः (शोभनगमना रश्मयः) अमृतस्य (उदकस्य) भागं (भजनीय अंशम् आदाय) अनिमेषम् (अनवरतं) विदथा (वेदनेन ज्ञानेन अस्माभिरेवं कर्तव्यमिति बुद्धया) अभिस्वरन्ति (अभिप्राप्नुवन्ति) ।

विश्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य इनः स्वामी तथा तस्यैव गोपाः गोपायिता रक्षिता। अयम् आदित्यः सः परमेश्वरः धीरः धीमान् प्राण्यन्महबुद्धियुक्तः सन् मा मां पाकं पक्तव्यम् अपक्वमज्ञम् अत्र अस्मिन् स्वकीयमण्डले आ विवेश प्रवेशयति। अत्र अस्मदीये देहे वा नियामकतया प्रविष्टः।

गुरुदत्त







Dharam Prakash Arya 14/13

सायंस और वेद

लेखक

गुरुदत्त

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110005

मूल्य
सजिल्द 60.00
अजिल्द 40.00

प्रकाशक हिन्दी साहित्य सदन
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड
करोल बाग, नई दिल्ली-110 005
email : indiabooks@rediffmail.com
टैलीफैक्स : 011-23551344, 23553624

संस्करण 2007

मुद्रक अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-32

SCIENCE AUR VED (Study of Vedic Science) *by* Guru Dutt
Published by HINDI SAHITYA SADAN, 2 B.D. Chambers 10/54, Desh Bandhu Gupta Road, Karol Bagh, New Delhi-110 005

सम्पादकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक स्व० श्री गुरुदत्त जी की मान्यता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रबल प्रयत्नों के फलस्वरूप ही आधुनिक भारत का वेद ज्ञान सम्बन्धी युग आरम्भ होता है। तदनन्तर योगिराज अरविन्द, पं० दामोदर सातवलेकर आदि अनेक विद्वानों एव लेखकों ने वेदाध्यायन एवं तत्सम्बन्धी लेखन पर स्वयं को केन्द्रित किया है। मध्यकाल के ह्रास के उपरान्त सभी शास्त्रग्रन्थों का भी ह्रास होने लगा था। स्वामी दयानन्द के उपरान्त दिशा कुछ बदली है।

मनीषि स्व० गुरुदत्त जी विज्ञान (सायंस) के विद्यार्थी रहे हैं। कालान्तर में उन्होंने शास्त्रग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। उनकी मान्यता है कि 'विज्ञान' शब्द यद्यपि 'सायंस' का ही पर्यायवाची है, किन्तु सायंस के अर्थों में जड़ वस्तुओं के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं आता है, जबकि भारतीय शास्त्र में जड़ वस्तुओं के अतिरिक्त चेतना का भी ज्ञान है। अतः विज्ञान के अर्थ 'सायंस' की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं। विज्ञान का अभिप्राय है, विशेष ज्ञान।

अनन्तरूपा कार्य-प्रकृति और अनन्त संख्या में आत्माएँ, इनकी अनन्तता का कारण हैं। कार्यरूप प्रकृति का मूल कारण 'आदि प्रकृति' है, जो त्रिगुणात्मक है। वे तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। इस त्रिगुणात्मक कारण-प्रकृति से ही संसार की अनेकानेक वस्तुएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। कारण-प्रकृति एक मूल पदार्थ है। प्राणी में कार्यरत आत्मा दूसरा मूल पदार्थ है। तीसरा मूल पदार्थ है परमात्मा।

इन्हीं तीन मूल पदार्थों के ज्ञान को विशेष ज्ञान अर्थात् 'विज्ञान' कहा है। विद्वान् लेखक ने 'सायंस और वेद' में इसी विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

अशोक कौशिक

सामान्य कथन

यह पुस्तक पहले वैद्य रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति के तत्वावधान में आयोजित एक वेद-गोष्ठी के अवसर पर एक निबन्ध के रूप में अक्तूबर, १९७९ को पढ़ी गई थी।

उस समय गोष्ठी में पढ़ने के लिए समय के विचार से, यह वर्तमान स्वरूप से बहुत छोटी थी। वह इस पुस्तक का प्रथम संस्करण था। यह द्वितीय संस्करण तो पुस्तक के रूप में होने के कारण इसकी वर्णन-शैली बदलनी पड़ी है और साथ, समय का प्रतिबन्ध न होने के कारण इसमें कुछ अधिक सामग्री दी गई है। इससे अब यह पहले से अधिक स्पष्ट और सुगमता से समझने के योग्य हो गई है।

हम समझते हैं कि इस संस्करण से इसका लाभ अधिक होगा।

मेरे मन में वेद में विज्ञान (सायंस) ढूँढने की इच्छा तो महर्षि स्वामी श्री दयानन्द जी सरस्वती के ऋग्वेद-भाष्य के आरम्भ में दिए वक्तव्य को पढ़कर हुई थी। स्वामी जी ने लिखा है—ऋक् शब्द का अर्थ है स्तुति (गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन) संसार के सब पदार्थों की; और ऋक्-वेद का अर्थ होगा संसार के सब पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन।…

मैं सायंस का विद्यार्थी होने के कारण वेद में सायंस ढूँढने लगा। सायंस भी पृथिवी की वस्तुओं का वर्णन ही है। परिणामस्वरूप यह पुस्तक प्रस्तुत है।

सदा की भाँति इस पुस्तक के लिखने में भी मुझे पं० शुचिव्रत लखनपाल शास्त्री, एम०ए०, एम०ओ०एल० का सहयोग प्राप्त रहा है।

८, दिसम्बर, १९८८ **गुरुदत्त**

१८/२८, पंजाबीबाग, नई दिल्ली-११००२६

भूमिका

यह भारतीय मान्यता है कि वेद, सृष्टि के आदि में मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए परमात्मा से दिया हुआ ज्ञान है। परमात्मा है अथवा नहीं यह हमने इस पुस्तक की सामग्री में ही सिद्ध किया है। वेद-ज्ञान का यह अंग है। अतः वैदिक ज्ञान में इसके प्रवक्ता का उल्लेख हुए बिना विषय का निरूपण पूर्ण नहीं समझा जा सकता।

ये वेद परमात्मा ने किस प्रकार सृष्टि में उत्पन्न उत्पन्न हुए मनुष्यों को दिए?—यह एक अत्यन्त विस्मय-जनक विषय है। परन्तु इसका भी वेद में वर्णन किया है। इस कारण उसका कथन और प्रक्रिया पुस्तक की सामग्री का अंग ही है। मनुष्य को किस कारण परमात्मा ने यह ज्ञान दिया—इस विषय पर इस पुस्तक में नहीं कहा, यह विषयान्तर समझ छोड़ रहे हैं। यह विषय वेद के मूल ज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है। इसका कथन हमने अपनी पुस्तक 'वेद और वैदिक काल' में संक्षेप में किया है।

यहाँ हम वेद शब्द की व्युत्पत्ति बताना चाहते हैं। यह विद् धातु से व्युत्पन्न है, अर्थ है 'जानना', अर्थात् आदि मनुष्य को जो कुछ जानने योग्य था और जो वह एक प्राणी होने से स्वयं नहीं जान सकता था, वह वेद में बताया है।

यहाँ हम यह बता देना चाहते हैं कि वेद को 'त्रयी विद्या' कहते हैं। इस का अभिप्राय है कि इसमें तीन विद्याएँ हैं। मध्यकालीन विद्वान् त्रयी विद्या के ऐसा अर्थ लगाते हैं जो बुद्धिगम्य नहीं। हम उन तीन विद्याओं को वेद के छः वेदांगों में से तीन समझते हैं। वे छः वेदांग हैं—१. छन्द, २. व्याकरण, ३. निरुक्त। ये तीन अंग वेद की भाषा से सम्बन्ध रखते हैं। शेष तीन वेदांग हैं—४. कल्प, ५. ज्योतिष और ६. शिक्षा। ये पिछले तीन-अंग वेद के ज्ञान का अंग हैं। हम इन तीन को ही त्रयी विद्या मानते हैं। पहले तीन अंग तो उत्तर के तीन अंगों को सुरक्षित रखने के साधन हैं। इस कारण उनको विद्या नहीं कहा। विद्या कल्प, ज्योतिष और शिक्षा ही हैं। यही कारण है कि इनको त्रयी विद्या कहा गया है।

इन तीन विद्याओं में से एक है कल्प। कल्प का अभिप्राय है सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का चलन और सृष्टि का प्रलय। प्रलय का अर्थ है पुनः अपने मूल कारण में लय हो जाना। इनका संक्षिप्त वर्णन ही कल्प में है।

वैसे तो त्रयी विद्या के तीनों विषय चारों वेदों में बिखरे पड़े हैं। इस पर भी 'कल्प' विषय मुख्य रूप से ऋग्वेद में दिया है।

वर्तमान 'सायंस' कल्प का आंशिक वर्णन ही है, अर्थात् सायंस वैदिक भाषा में कल्प का एक अंशमात्र ही है। यहाँ हम सायंस के अर्थ, जैसे 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में किया है, लिख दें तो हमारे कथन को भली प्रकार समझा जा सकेगा। वहाँ कहा है—

"The Latin word 'Scientia' meant 'knowledge'. But the modern usage covers only certain kinds of knowledge whose area, however, is now so vast that no man can grasp more than a fraction of them...."

–*Encyclopaedia Britannica*, 1967, Vol. 20, Page 7

अर्थात्—लैटिन भाषा के शब्द 'सायंटिया' का अर्थ है 'ज्ञान'। परन्तु आज-कल की भाषा का 'सायंस' शब्द से अभिप्राय कुछ ही प्रकार का ज्ञान है। उस ज्ञान के प्रत्येक प्रकार में विषय इतना विस्तार से पता चल गया है कि कोई भी व्यक्ति उसका एक अंशमात्र ही ग्रहण कर सकता है। ....

इसका अर्थ है ज्ञान में इतने विषय हैं कि आज के विद्वान् विज्ञान में वे सब नहीं ला सके। जिन पर अन्वेषण किया गया है, वह सब इतना विस्तृत हो गया है कि एक मनुष्य उसका एक अंश ही जान सका है।

हम समझते हैं कि यह मनुष्य के प्रयास की श्लाघा तो हो सकती है परन्तु इस मनुष्य के ज्ञान की व्यापकता का सूचक नहीं कह सकते। इसका अर्थ है कि कोई भी वर्तमान युग का वैज्ञानिक पूर्ण ज्ञान का ज्ञाता नहीं। वह अपने विषय का भले ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु वह ज्ञानवान् आंशिक रूप में ही होगा। इसे ज्ञान के किसी एक अंग को व्याख्या से जान लेने वाला होने पर भी उसको संसार के विस्तृत ज्ञान से एक अनभिज्ञ व्यक्ति ही मानना पड़ेगा।

इसमें हम किसी भी विद्वान् का दोष नहीं मानते। हम वर्तमान विज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध और मूल ज्ञान का अभाव देखते हैं।

ज्ञान के सब अंग परस्पर संबंधित हैं। उस सम्बन्ध को जानकर

सामान्य ज्ञान के सब अंगों का ज्ञान हो जाता है। इस व्यापक ज्ञान के उपरान्त किसी एक ज्ञान के अंग को व्याख्या से जान लेने से ही मनुष्य का पूर्ण ज्ञानवान् होना, माना जा सकता है।

इस ज्ञान की व्यापकता को समझने का यत्न वेद में किया गया है। इस का अति संक्षिप्त चित्र भगवद्गीता के एक श्लोक में इस प्रकार दिया है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

भ० गी० १५-१ ॥

अर्थात्—जिसका मूल ऊपर (परमात्मा में) है और शाखाएँ नीचे को आ रही हैं (जगत् के पदार्थ परमात्मा से उत्पन्न हुए है) ऐसा संसाररूपी पीपल का वृक्ष है। इसके पत्ते (छन्द) अविनाशी वेदमंत्र कहे जाते हैं। इस वृक्ष को जो तत्त्व से जानता है, वह ज्ञानवान् कहा जाता है।

भगवद्गीता के अगले दो श्लोक उक्त कथन की व्याख्या में हैं। वे इस प्रकार हैं—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

भ० गी० १५-२, ३ ॥

अर्थात्—इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर और नीचे फैली हुई हैं। ये शाखाएँ गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) से वृद्धि पाए हुई हैं। इन (शाखाओं) पर विषयरूपी कोंपलें हैं। शाखाएँ हैं भिन्न-भिन्न योनियाँ। ये नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। मनुष्य-योनि में कामनाएँ कर्मों से (कर्मफल से) बाँध रही हैं। ये (कामनाएँ) नीचे और ऊपर सबको प्राप्त हो रही हैं॥२॥

इस (संसाररूपी) वृक्ष का जो रूप वर्णन किया गया है, सायंस में वैसा नहीं पाया जाता। क्योंकि, न तो इसका आदि है न ही अन्त है। न ही पता है कि कहाँ टिका हुआ है। इस कारण इसके सुदृढ़ जड़ को कठोर वैराग्य से काटकर जानो॥३॥

वर्तमान सायंस और वेदज्ञान में अन्तर है। वेद शब्द का अर्थ भी ज्ञान

है। वेदज्ञान इस वृक्षरूपी जगत् की जड़ों तक पहुँच गया है। इससे यह सम्भव हो गया है कि इस जगत् की अनन्त शाखाओं में फैले ज्ञान को मानव-ज्ञान में लाया जा सके। इसका यह अर्थ भी है कि पूर्ण जानने योग्य एक मनुष्य की पहुँच में आ जाता है। यह वर्तमान विज्ञान की भाँति नहीं कि एक शाखा की उपशाखाओं और पत्तों को गिनने में ही मनुष्य उलझ जाए। मूल से आरम्भ करने से ज्ञान की सब शाखाओं में गति हो जाती है।

वेद शब्द का अर्थ है पूर्ण जगत् का ज्ञान। इस जगत् में अगणित वस्तुएँ हैं; सबका ज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि इस जगत्-रूपी वृक्ष की जड़ परम ब्रह्म का ज्ञान वेद में है। जड़ के ज्ञान से पूर्ण जगत्रूपी वृक्ष का सामान्य ज्ञान हो जाता है। जगत् का विस्तार पीपल वृक्ष की शाखाओं और पत्तों की भाँति बहुत बड़ा है। जड़ से ज्ञान-यात्रा आरम्भ करनेवाले को सामान्य ज्ञान पूर्ण वृक्ष का हो जाता है।

यह वर्तमान सायंस की भाँति नहीं है कि वैज्ञानिक एक शाखा के पत्तों में उलझे तो शेष का कुछ भी ज्ञान न हो।

वैदिक विज्ञान का, सिद्धान्त के रूप में एक अतिप्राचीन ग्रन्थ सांख्य-दर्शन में वर्णन किया गया है। सांख्य शब्द से ही सायंस शब्द विकृत होकर बना है। शब्द सांख्य में से 'ख्य' उच्चारण भ्रष्ट होकर 'Science' (सायंस) बन गया।

सांख्य दर्शन के प्रवक्ता महर्षि कपिल मुनि हुए हैं। कपिल त्रेता युग के प्रारम्भिक काल में उतपन्न हुए माने जाते हैं। भारतीय गणना के अनुसार यह काल आज से इक्कीस लाख वर्ष पूर्व माना जाता है।

इतना तो निश्चय ही है कि यह महाभारत ग्रंथ से पूर्व का ग्रन्थ है। महाभारत में कपिल मुनि का वर्णन आया है। इससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान वैज्ञानिकों से बहुत पहले का विज्ञान कुछ उन रहस्यों को बता गया है जो वर्तमान विज्ञान में समाविष्ट हैं और फिर उससे भी कुछ अधिक इसमें कहा है।

वेदज्ञान-भण्डार में सायंस का विस्तृत वर्णन सांख्य दर्शन में है। यह हम मूल पुस्तक में बताएँगे कि कहाँ सांख्य वर्तमान विज्ञान से आगे निकल गया है।

यहाँ हम यह बता देना चाहते हैं कि वेद में ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है—विद्या और अविद्या। विद्या का अर्थ है उन पदार्थों का ज्ञान जो सदा

विद्यमान रहते हैं, और अविद्या का अर्थ उन पदार्थों से है जो नाशवान् हैं। वैदिक विज्ञान में तीन पदार्थ सदा रहनेवाले माने गए हैं—परमात्मा, आत्माएँ और प्रकृति; इनको अक्षर कहा है। इनके ज्ञान को विद्या कहा है। और जगत् के वे पदार्थ जो बने हैं और जो टूटते दिखाई देते हैं वे अनन्त हैं। उनके ज्ञान को अविद्या कहते हैं। साथ ही वेद में कहा है, दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान, अर्थात् विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान मनुष्य को होना चाहिए।

वहाँ कहा है—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽअविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाᳬं रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽ अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ᳬं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

(यजुः ४०—१२, १३, १४)

अर्थात्—जो अविद्या (नाशवान् पदार्थों) की उपासना = ज्ञान प्राप्त अथवा भोग-विलास प्राप्त करते हैं वे अन्धकार (अज्ञान) में जाते हैं। और जो (केवल) विद्या (अक्षर-पदार्थों के ज्ञान में) ही रमते हैं वे और अधिक अन्धकार में विचरते हैं॥१२॥

सुनते हैं कि विद्वान् लोग कहते हैं कि विद्या का फल दूसरा है और अविद्या का फल दूसरा होता है॥१३॥

जो विद्या और अविद्या को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से हुए मर्त्यलोक (जन्म-मरणवाले संसार) को पार कर (सुगमता और सुखपूर्वक लाँघकर) अमृत (मोक्ष) को पाता है॥१४॥

इसका अभिप्राय यह है कि जगत् के पदार्थों के ज्ञान से जगत् में जीवन सुखमय और सुगम हो जाता है, और अनादि के ज्ञान से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है।

अतएव वैदिक विज्ञान संसार को त्याज्य नहीं मानता। इसके ज्ञान को संसार में सुखमय जीवन व्यतीत करने में सहायक मानता है। वेद में संसार के सुखमय जीवन व्यतीत करने को वर्जित नहीं किया गया।

गुरुदत्त

विषय-क्रम

सामान्य वृत्तान्त

जब हमें किसी एक विषय का अध्ययन दो भिन्न भाषाओं में करना हो तो यह आवश्यक हो जाता है कि उन भाषाओं में विषय के पारिभाषिक शब्दों का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए। यहाँ इस पुस्तक में हम विज्ञान के विषय का अध्ययन वेद की भाषा में और आधुनिक विज्ञान (सायंस) की भाषा में कर रहे हैं। अतएव दोनों भाषाओं में विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का पहले अध्ययन किया जाए।

सबसे पहले वैदिक भाषा के शब्द 'पदार्थ' के विषय में ही समझना चाहिए। पदार्थ वे कहाते हैं जिनका नाम भाषा में कहा जा सके। जगत् के सब पदार्थ जिनका भाषा में नाम है वे पदार्थ कहे जाते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में पदार्थ शब्द का पर्याय प्राप्त नहीं है। शब्द 'थिंग' अथवा 'सब्स्टेंस' इसके पर्याय नहीं। 'थिंग' और 'सब्स्टेन्स' अंग्रेजी भाषा के शब्द, पदार्थ के अर्थों को प्रकट नहीं करते। ये अंग्रेजी भाषा के शब्द कुछ पदार्थों के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकते। उदाहरण के रूप में 'गॉड' तथा 'सोल' शब्द थिंग तथा सबस्टेन्स नहीं कहाते। वेद का पदार्थ शब्द उनके लिए भी प्रयुक्त होता है। अभिप्राय यह है कि जो कुछ हम शब्दों में वर्णन कर सकते हैं वह पदार्थ कहा जाता है। ऐसा कोई शब्द वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में नहीं है।

यह बात कि परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति और इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों से (बलशाली यंत्रों की सहायता से भी) न जाने जा सकने का विषय नहीं। यह कारण नहीं कि वे हैं ही नहीं। सामान्य अंग्रेजी भाषा में उनके लिए शब्द 'गॉड', 'सोल' और 'प्राइम-ओर्डियल मैटर' हैं। वैदिक भाषा में इनको भी पदार्थ माना जाता है। इनकी वैज्ञानिक स्थिति क्या है, यह इस पुस्तक की विवेचना का विषय है। जहाँ तक इनका नाम है, ये भी पदार्थ कहे जाते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य पदार्थ हैं। उनका वर्ण१ आगे किया जाएगा।

वैदिक भाषा में पूर्ण जगत् के पदार्थ गणों में विभक्त हैं। गण का अभिप्राय श्रेणियाँ (क्लास) कहा जा सकता है। जगत् के पदार्थ सात श्रेणियों में विभक्त हैं। इनको गण कहते हैं।

पूर्व इसके कि हम इन श्रेणियों के विषय में बताएँ, हम 'जगत्' शब्द का भी अर्थ समझा देना चाहते हैं। जगत् उस प्रपंच को कहते हैं जो हम अपने चारों ओर गतिशील (चलता हुआ) पाते हैं। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारागण अथवा जो कुछ भी गतिशील हमारे चारों ओर है, वह एक नाम 'जगत्' से जाना जाता है। जगत् शब्द के शाब्दिक अर्थ हैं वह जो गतिशील है। जो बना हुआ है और जो नाशवान् है, वह जगत् कहा जाता है।

आधुनिक विज्ञान में प्रायः इसे 'युनिवर्स' कहा जाता है। हम समझते हैं कि 'युनिवर्स' शब्द जगत् का पर्याय नहीं है। युनिवर्स तो एक ही है, परन्तु जगत् तो एक-दूसरे से स्वतन्त्र कई-कई हैं। उन सब का भी एक नाम है (संसार), परन्तु वैज्ञानिक भाषा में 'युनिवर्स' उस गैलैक्सी को, जिसका हमारा सौर-मण्डल एक बहुत ही छोटा भाग है, आकाश-गंगा कहते हैं।

इस आकाशगंगा के अतिरिक्त भी अन्य तारामंडल हैं।

इस खगौलिक (एस्ट्रोनॉमिकल) पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर हम अपने पृथिवी पर के पदार्थों की श्रेणियों का ही वर्णन इस पुस्तक में कर रहे हैं।

सांख्य दर्शन उन गणों का उल्लेख इस प्रकार करता है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इतिपञ्चविंशतिर्गणः ॥

(सां० द० १-६१)

सांख्य इस जगत् को पच्चीस गणों में विभक्त करता है। वे गण उक्त उद्धरण में गिनाए हैं। इसका अर्थ है—

१. सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। यह एक ही है। यह गण नहीं है।
२. प्रकृति से महान् बनता है। यह एक ही है।
३. महत् से अहंकार बनते हैं। ये तीन हैं।
४. अहंकार से दोनों प्रकार की इंद्रियाँ बनती हैं। ये दस हैं।

५. अहंकार से पाँच तन्मात्रा बनते हैं।

६. तन्मात्राओं से पंच महाभूत बनते हैं।

७. पुरुष जिसके लिए ये ऊपर कहे पदार्थों के गण बने हैं।

इस प्रकार पच्चीस गण हैं।

इन गणों के पर्यायवाचक वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में बताए जाएँ तो वे इस प्रकार होंगे :—

पुरुष दो हैं—एक परमात्मा (गॉड) और दूसरा जीवात्मा (सोल)।

प्रकृति—ये तीन शक्तियों सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था को कहते हैं (प्राइम-ऑर्डियल मैटर)।

इन तीनों का वर्तमान विज्ञान में कुछ नाम नहीं हैं। बोलचाल की भाषा में इनको 'गॉड', 'सोल' और 'मैटर' कहते हैं। परन्तु वर्तमान विज्ञान इनको स्वीकार नहीं करता। वैदिक विज्ञान इन तीनों को न केवल स्वीकार करता है वरन् इन तीनों को पूर्ण जगत् का आधार मानता है।

महत्—इसका विज्ञान में कुछ नाम नहीं है। कुछ इसको कॉस्मिक डस्ट कहते हैं, परन्तु यह महत् का ठीक-ठीक वर्णन नहीं माना जा सकता।

अहंकार—यह शब्द सांख्य दर्शन का है। वैदिक भाषा में इसे 'आपः' कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं। ये वर्तमान विज्ञान को भी विदित हैं। इनका सामूहिक नाम एटॉमिक पार्टिकल है। एटॉमिक पार्टिकल भी तीन प्रकार के हैं। विज्ञान में इन तीन के पृथक्-पृथक् नाम और गुण हैं। वैदिक भाषा में भी इनके पृथक्-पृथक् नाम और गुण हैं।

ये तीन नाम इस प्रकार हैं—

१. मित्र = इलेक्ट्रॉन

२. वरुण = प्रोटोन

३. अर्यमा = न्यूट्रॉन

इन आपः से बनते हैं परिमण्डल (ऐटम्स)। ये परिमण्डल ही सृष्टि के सब पदार्थों को बनाते हैं।

सांख्य दर्शन में कहा है कि अहंकारों से पंच तन्मात्रा और इन्द्रियाँ बनती हैं। तन्मात्रा संख्या में पाँच हैं और इन्द्रियाँ दस हैं। जो पदार्थ अहंकारों और तन्मात्रा की सहायता से बनते हैं उनको पाँच श्रेणियों में बाँटा गया है।

इन श्रेणियों के नाम हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। पुरुष हमने दो कहे हैं, परन्तु सांख्य में एक का ही कथन है। इसका कारण है कि एक प्रकार का पुरुष जीवधारियों में ही आता है। ये गिनती में असंख्य हैं। दूसरी प्रकार का पुरुष एक ही सर्वत्र व्यापक है।

इस सब गणों का वर्णन ही वैदिक विज्ञान है।

वर्तमान विज्ञान में इसकी कहाँ समानता है और कहाँ भिन्नता है? यह हम यथास्थान व्याख्या में वर्णन करेंगे।

द्वितीय अध्याय

अक्षर पदार्थ

संसार के सब पदार्थ मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बाँटे गए हैं। एक तो वे जो सदा बने रहते हैं। वे नष्ट नहीं होते। वे तीन हैं। वे हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति साम्यावस्था में। ये तीनों अव्यक्त कहाते हैं। अव्यक्त का अभिप्राय है जिनका रूप, रंग इत्यादि नहीं होता। ये मनुष्य की इन्द्रियों की पहुँच से परे हैं। इन्द्रियों की पहुँच यंत्रों की सहायता से बहुत दूर तक जा सकती है। दूरबीन 'टेलिस्कोप' बहुत दूर तक दृष्टि को पहुँचा देती है। इसकी सहायता से करोड़ों, पद्मों मील की दूरी की वस्तु भी देखी जा सकती है।

इस प्रकार क्षुद्रबीन (माइक्रोस्कोप) अतिसूक्ष्म वस्तु को देखने में सहायक होती है। बढ़िया माइक्रोस्कोप से किसी वस्तु को लाखों गुणा बड़ा कर दिखाया जा सकता है।

परन्तु कहा जाता है कि ये तीनों पदार्थ—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति इन यंत्रों की पहुँच से भी परे हैं। इस कारण ये इन्द्रियों की पहुँच से भी बहुत परे हैं।

प्रश्न उपन्न होता है कि जब ये पहुँच से ही परे हैं तो फिर इनकी उपस्थिति कैसे मानी जाए? यही कारण है कि वर्तमान विज्ञान इनको नहीं मानता।

परन्तु यह तो बुद्धि को स्वीकार नहीं कि शून्य से यह दृश्य जगत् बन गया। 'कुछ नहीं' से कुछ, बन नहीं सकता। मूल में कुछ होना मानना पड़ता है। अन्यथा जगत् के विभिन्न पदार्थों का बनना बुद्धिगम्य नहीं।

अतः 'कुछ' है, जिससे इस जगत् के पदार्थ बने हैं। भारतीय विज्ञान में ऐसे पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक ढंग निकाला गया है। इसको अनुमान प्रमाण कहा जाता है।

सांख्य का सिद्धान्त है :—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ (सां० द० १-७८)

अर्थात्—अवस्तु (शून्य) से कुछ नहीं बनता।

यह शुद्ध बुद्धि से विचारित तथ्य है। किसी पीर-पैगम्बर अथवा इलहामी किताब में वर्णन से मानने के लिए नहीं कहा जा रहा। इसके साथ ही सांख्य की यह भी मान्यता है :—

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ (सां० द० १-६७)

अर्थात्—मूल में मूल का अभाव होने से मूल मूलरहित है।

इसका अभिप्राय यह है कि अंतिम मूल पदार्थ मानना पड़ता है। यदि पदार्थ का मूल, उसका मूल और फिर उसका भी मूल ढूँढते फिरें तो एक स्थान पर सबका एक मूल मानना पड़ेगा। यह बात भी युक्ति ही से कही गई है। ऐसी युक्ति को तर्क कहते हैं।

तर्क में भी एक शर्त है। वह यह कि तर्क बिना आधार के नहीं किया जा सकता।

जब तर्क आधारयुक्त हो तो इसे अनुमान-प्रमाण कहते हैं।

नैयायिक चार प्रकार का प्रमाण मानते हैं। नैयायिक का मत है कि इस कार्य-जगत् में कुछ भी प्रमाण अर्थात् तर्क-रहित नहीं है। संसार में किसी भी वस्तु के होने अथवा न होने की सिद्धि इन चार प्रकार के प्रमाणों से की जा सकती है। न्याय दर्शन में कहा है :—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ (न्याय द० १-१-३)

इसका अर्थ है—पदार्थ के होने अथवा न होने की सिद्धि निम्न चार प्रकारों से की जी सकती है—

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. शब्द-प्रमाण से।

प्रत्यक्ष का अभिप्राय है कि, जब पदार्थ इन्द्रियों से जाना जाए, तो उसकी प्रत्यक्ष में सिद्धि मानी जाती है। मनुष्य में पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं—चक्षु, घ्राण, श्रवण, रसना और स्पर्श। इनके द्वारा, इनके अपने-आप अथवा इनके सहायक किसी भी यंत्र द्वारा पदार्थ के होने अथवा न होने को सिद्ध किया जा सकता है। जो प्रत्यक्ष, इन्द्रियों से जाना जा सकता है, उससे तो कोई इनकार नहीं कर सकता। वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी इससे सिद्ध वस्तु से इनकार नहीं करते।

परन्तु इस जगत् के मूल अक्षर अतिसूक्ष्म और अव्यक्त, रूप-रंग-रहित

होने से इन्द्रियों से तो अनुभव किए नहीं जा सकते। अतः मूल अक्षरों की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती।

दूसरा प्रमाण है अनुमान। हमने बताया है कि अनुमान ही तर्क है। और तर्क के विषय में ब्रह्मसूत्रों ने कहा है :—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥

(ब्र० सू० २-१-११)

अर्थात्—तर्क प्रतिष्ठित होना चाहिए। नहीं तो इससे लगाया अनुमान सिद्ध नहीं हो सकेगा।

प्रतिष्ठित का अभिप्राय है किसी प्रत्यक्ष से सिद्ध ज्ञान पर आधारित। युक्ति किसी इन्द्रिय से सिद्ध हुई बात के आधार पर होनी चाहिए। तब ही वह प्रतिष्ठित मानी जा सकती है।

इस प्रतिष्ठित तर्क की व्याख्या सांख्य दर्शन करता है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ (सां० द० १-१००)

अर्थात्—यदि दो अथवा अधिक वस्तुएँ सदा साथ-साथ देखी जाएँ तो एक की उपस्थिति से दूसरी की उपस्थिति को अनुमान से सत्य माना जा सकता है।

अनुमान से प्रतिष्ठित बात तब है जब कि पहले वस्तुओं का संयोग कहीं देखा हो। इसका एक उदाहरण सांख्य दर्शन में ही दिया है। वहाँ कहा है :—

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥

(सां० द० १-६०)

अर्थात्—जो दिखाई न दे अथवा इन्द्रियों से पता न चले वह अनुमान प्रमाण से पता चल सकता है, जैसे धूम्रादि देखने से अग्नि का ज्ञान होता है।

धुआँ बिना अग्नि के नहीं देखा जाता, अतः अग्नि अदृश्य होने पर भी धुएँ के होने से उसके साथ अग्नि के होने का निश्चय हो जाता है।

वैसे तो दो प्रकार के अन्य प्रमाण भी हैं, परन्तु अक्षर और अव्यक्त पदार्थों की सिद्धि के लिए यह अनुमान प्रमाण सर्वोत्कृष्ट है।

अब इसी अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि के विषय में तर्क इस प्रकार किया जा सकता है :—

हम अपने कमरे में कुर्सी पर बैठे हैं। जब हमारी इच्छा होती है हम कुर्सी से उठकर जहाँ चाहे जा सकते हैं, अथवा कहीं कमरे के बाहर भी जा सकते हैं। परन्तु हमारी कुर्सी कमरे से बाहर नहीं जाती—कभी नहीं जाती। कोई उसे उठाकर इधर-उधर हिलाए-डुलाए तो जहाँ तक वह हिलाई जाती है, वहाँ तक वह जाती है।

अर्थात् प्रकृति के बने पदार्थ जब तक हिलाए-डुलाए नहीं जाते, अपना स्थान नहीं बदलते।

मनुष्य का शरीर भी जड़ है। जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक शरीर इसमें आत्मा के बल से हिलता-डुलता है, और जब मनुष्य मर जाता है और उसमें का आत्म-तत्त्व निकल जाता है तब शरीर का हिलना-डुलना समाप्त हो जाता है।

अतः यह माना जाता है कि शरीर जड़ है। जब वह आत्मा के बिना होता है तो जड़वत्, जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा रहता है।

इसी प्रकार सूर्य-चन्द्र, तारागण इत्यादि चल रहे हैं, यद्यपि वे भी जड़ पदार्थ हैं। जैसे जीवित शरीर को चलानेवाला इसमें जीवात्मा होता है, वैसे ही सूर्य इत्यादि में भी कोई आत्म-तत्त्व रहता है जो इनको निरन्तर गति देता रहता है।

आकाश में तारे टूटते दिखाई देते हैं, और कभी उन टूटे तारों के अंश इस पृथिवी पर आ गिरते हैं। वे टुकड़े हिलते-डुलते नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन तारागण को भी गतिशील रखनेवाली कोई शक्ति है। वह शक्ति परमात्मा है।

इसको, अर्थात् प्रकृति को, गति देनेवाला कोई आत्म-तत्त्व है, यह ब्रह्म-सूत्र में भी कहा है :—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्॥ (ब्र० सू० २-२-४)

अर्थात्—प्रकृति में गति नहीं आती जब तक कोई बाहरी शक्ति उसमें आकर उसे हिलाए नहीं।

यही बात न्यूटन की गति के सिद्धान्त में भी कही है। वहाँ कहा है—

Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless

compelled by outside force to change that state.

(Ist Law of Motion —Neuton)

इसका अर्थ है—प्रकृति का प्रत्येक कण जहाँ है वहीं ठहरा रहता है, अथवा चलता है तो सीधी रेखा में एक निश्चित गति से चलता रहता है जब तक कि कोई बाहरी शक्ति उस पर बल का प्रयोग न करे।

वह जो सूर्य, चन्द्र, पृथिवी इत्यादि नक्षत्रों को गतिशील करता है वह ही परमात्मा है। प्रत्यक्ष देखने से यह अनुमान लगाया है कि कोई बहुत बड़ी शक्ति है जो इनको लाखों वर्षों से गतिशील रखे हुए है। यहाँ तारागण इत्यादि की गति सीधी रेखा में नहीं है। इस कारण किसी चेतन शक्ति का निरन्तर इन पर प्रभाव हो रहा है, इसका अनुमान होता है। वेद इस शक्ति को परमात्मा कहता है।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से परमात्मा की सिद्धि होती है। लोग इस शक्ति अर्थात् परमात्मा के गुण और कर्मों की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करते हैं। इसका परमात्मा के होने से सम्बन्ध नहीं। यह तो निश्चय ही है कि इस गतिशील जगत् को गतिदेने वाली कोई महान् शक्ति है। इसका नाम भी भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न है। यह भी विचार का विषय नहीं। यहाँ हम इसके होने को सिद्ध कर रहे हैं।

पाठकों के ज्ञान के लिए वेद, जो परमात्मा का लिंग माना जाता है, उसमें परमात्मा का कथन इस प्रकार है। वेद में कहा है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽअर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजुः० ४०-८)

अर्थात्—ईश्वर (परमात्मा) के मुख्य गुण इस प्रकार कहे हैं। वह सर्वव्यापक, अत्यन्त बलशाली, शरीर के बिना, छिद्र-रहित, विकार-रहित, सर्वथा शुद्ध (अन-अडल्ट्रेटिड), पाप-रहित, महान्, ज्ञानवान्, मननशील, सदा उपस्थित, स्वयं ही प्रकट होनेवाला, सत्य ज्ञान को देनेवाला, महान् ज्ञान का स्वामी, शाश्वत ज्ञान से जगत् के पदार्थों को बनानेवाला—सब स्थान पर समान भाव से रहनेवाला है।

ये परमात्मा के गुण भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध किए जा सकते हैं।

तृतीय अध्याय

जीवात्मा

'जीवात्मा' वह पदार्थ है जो जड़ पदार्थ और जीवित प्राणी (ऐनिमेट ऐण्ड इन-ऐनिमेट) में अन्तर बताता है। संसार में दो प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं। उनको जीव और जड़ के नामों से स्मरण किया जाता है। वैदिक भाषा में इनको शरीरी और अशरीरी कहकर भेद-वर्णन किया गया है। इन नामों का अभिप्राय है कि वे जो शरीरधारी हैं और वे जो शरीर धारण नहीं किए हुए। इनको अंग्रेजी भाषा में ऐनिमेट और इन-ऐनिमेट पदार्थ कहा जाता है।

वर्तमान विज्ञान इन दोनों प्रकार के पदार्थों में अन्तर नहीं देखता। दोनों में अन्तर प्रकट करने के लिए 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' की एक कण्डिका में इस प्रकार लिखा है—

...The necessary and sufficient condition for an object to be recognizable as a living organism, and so to be the subject of biological investigation, is that it be a discrete mass of matter, with a definite boundary, undergoing continual interchange of material with its surroundings without manifest alteration of properties over short periods of time and, as ascertained either by direct observation or by analogy with other objects of the same class, originating by some process of division and fractionation from one or two pre-existing objects of the same kind. The criterion of continual interchange of material may be termed the metabolic criterion, that of origin from a pre-existing object of the same class, the reproductive criterion.

—Ency. Brit. 1967, Vol. 3, Page 653

अर्थात्—एक जीवित संगठन के पहचाने जा सकने के आवश्यक और उचित प्रमाण (लक्षण) जिससे वह प्राणीशास्त्र का विषय और प्राणीशास्त्र के अनुसंधान में उपयुक्त समझे जा सकते हैं, उसका एक विचारशील प्रकृति का

ढेला होना। उसकी एक निश्चित सीमा होती है और जो निरन्तर अपने आस-पास की वस्तुओं से वस्तुओं का आदान-प्रदान करता रहता है। उस आदान-प्रदान में वस्तु के कुछ काल के लिए गुणों में विशेष परिवर्तन नहीं होता। यह सीधे निरीक्षण से अथवा उसी श्रेणी की वस्तुओं से तुलना करने से जाना जा सकता है। वह आरम्भ होता है विभाजन की प्रक्रिया से, अथवा एक अथवा दो पूर्व-उपस्थित एक ही प्रकार के, एक ही श्रेणी के प्रकृति के ढेलों से, काट-छाँट होने से, निरन्तर होने वाला वस्तुओं का आदान-प्रदान उपापचयी (मैटाबोलिज्म) कहा जा सकता है। यह है उसी प्रकार की पूर्व-उपस्थित वस्तु से उत्पन्न होना।

उक्त कथन में यदि कोई समझ में आनेवाली बात है तो वह केवल 'विचारशील' होने की है। शेष सब जो प्रकृति का आदान-प्रदान कहा है वह जड़ पदार्थों में भी होता देखा जाता है। अतः उनको बीच में घसीट लाना विषय से सर्वथा अनभिज्ञ होना प्रकट करता है।

जब एक दीपक जलता है तो उसमें रासायनिक परिवर्तन होते देखे जाते हैं, परन्तु दीपक की लौ को कोई जीवित वस्तु नहीं कहते—

इसके विपरीत जीवित प्राणी के वैदिक लक्षण सर्वथा ठीक प्रतीत होते हैं। जीवित प्राण में गुण कहे गए हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥

न्याय० द० १-१-१० ॥

अर्थात्—आत्मा के लिंग हैं—इच्छा करना, द्वेष करना, प्रयत्न करना, सुख-दुःख अनुभव करना और चेतना। ये आत्मा के अनिवार्य गुण हैं।

न्याय दर्शन के इस सूक्त में लक्षणों के स्थान पर लिंग शब्द का प्रयोग किया है। लिंग वस्तु के उस लक्षण को कहते हैं जो वस्तु में सदा रहे और किसी अन्य वस्तु में न हो। लिंग लिखने से दर्शनाचार्य का अभिप्राय यह है कि ये लक्षण इच्छा, द्वेष इत्यादि जीवधारियों के अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं हो सकते।

इस विषय में वर्तमान विज्ञान वालों की मिथ्या दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है। यदि उनमें कोई एन्साइक्लोपीडिया के कथन को न माने तो यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनके पास जीवधारियों का कोई उपयुक्त लक्षण

नहीं है। जब तक यह न हो तब तक वह जीवन की खोज को करने में सफल नहीं हो सकते।

आजकल 'जीन' (Gene) को जीवन का आधार माना जाता है। इसके विषय में हम अपने तथा वेद के विचार पृथक् अध्याय में बताएँगे। यहाँ इतने से ही अभिप्राय है कि जीवधारियों के लक्षण इच्छा, द्वेष आदि जो न्याय दर्शन में बताए हैं, वही हैं।

परन्तु वेद में जीवधारियों को केवल जीवन-तत्त्व नहीं माना है। जीवधारी तीन तत्त्वों का समूह है। तत्त्व का अभिप्राय है सार की वस्तु। कहने का अभिप्राय है कि जीवधारियों में तीन अक्षर पदार्थों का सम्मिश्रण। यह हम इस प्रकार तर्क से समझा सकते हैं। ब्रह्मसूत्रों में युक्ति (तर्क) की यह शृंखला लिखी है—

१. जो सब स्थान पर प्रसिद्ध है उसके अध्ययन से ब्रह्म का ज्ञान होता है। ब्रह्म के अर्थ हम आगे चलकर बताएँगे। सर्वत्र प्रसिद्ध से अभिप्राय है यह कार्य-जगत् जो हम अपने चारों ओर देखते हैं। यह जगत् है।

२. इसको देखने से वस्तुओं में गुणों के भेद से दो प्रकार की वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—एक जो चलती (गतिशील) दिखाई देती हैं और दूसरे जो स्थावर हैं। सूर्य, चन्द्र, तारागण, प्रकाश, शब्द इत्यादि ऐसे पदार्थ हैं, जो चलते हैं। और कमरे में रखी मेज, कुर्सी, अल्मारी इत्यादि ये अचल (स्थावर) पदार्थ हैं। इनको जंगम और स्थावर कहते हैं। इन चलायमान वस्तुओं को चलानेवाले तत्त्व को 'आत्मन्' कहते हैं।

एक कुर्सी है, उस पर एक मनुष्य बैठा है। मनुष्य तो इच्छा से चलता-फिरता बैठता है परन्तु कुर्सी को जब तक कोई दूसरा उठाकर हिलाए नहीं, वह अपने स्थान से हिलती नहीं। अतः कुर्सी पर बैठे मनुष्य में आत्म-तत्त्व है और कुर्सी में आत्मतत्त्व का अभाव है।

३. हिलने-डुलनेवाली वस्तुएँ दो प्रकार की हैं। सामान्य भाषा में उनको शरीरी और अशरीरी कहते हैं। उदाहरण के रूप में पृथिवी है। यह अपनी धुरी पर चक्कर काट रही है। चौबीस घण्टे में एक चक्कर पूर्ण करती है। वह यह तब से कर रही है जब से वह बनी है। सहस्रों वर्ष का वृत्तान्त तो लिखा मिलता है कि दिन-रात जिसमें पृथिवी अपनी धुरी के गिर्द एक चक्कर

पूरा करती है वह काल २४ घण्टे का है।

परन्तु इन जंगम (चलायमान) वस्तुओं में कुछ ऐसे भी देखे जाते हैं जो अपनी गति की दिशा और वेग को बदल भी सकते हैं। पृथिवी ऐसा नहीं कर सकती। वह तो निरन्तर एक ही गति से और एक ही दिशा में धुरी के चारों ओर चक्कर काट रही है। उदाहरण के रूप में मनुष्य है, वह नित्य भ्रमण को जाता है परन्तु वह अपने भ्रमण की दिशा और गति को तथा गति के वेग को स्वेच्छा से बदलता रहता है।

इसका अभिप्राय यह है कि एक आत्मतत्त्व एक निश्चित गति ही उत्पन्न कर सकता है। परन्तु दूसरा आत्मतत्त्व गति को इच्छानुसार बदल भी सकता है।

४. जो आत्मतत्त्व एक वस्तु में सदा एक निश्चित दिशा और वेग की गति उत्पन्न कर रहा है और दूसरा जो अपनी इच्छा अथवा आवश्यकतानुसार गति को दिशा देता अथवा बदल भी सकता है। अर्थात् आत्मतत्त्व दो प्रकार के हैं।

सूर्य, चन्द्र, तारागण बहुत ही प्राचीन काल से एक स्थिरगति से एक स्थिर दिशा में घूम रहे हैं। ऐसा ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता जानते हैं।

परन्तु मनुष्य अथवा जीवधारी की गति, गति की दिशा, गति का वेग मनुष्य अथवा जीवधारी पर निर्भर करते हैं।

अर्थात् सूर्य-चन्द्रादि का संचालन करनेवाला कोई दूसरा है और मनुष्य के चलने-फिरने को करानेवाला आत्मतत्त्व दूसरा ही है। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मतत्त्व दो प्रकार के हैं।

५. शरीर की वस्तुओं में दो प्रकार की गतियों का होना देखा जाता है। उदाहरण के रूप में मनुष्य का उठना-बैठना, दूकान अथवा कार्यालय आना-जाना, मनुष्य की इच्छा के अधीन है, परन्तु उसके हृदय की गति उसके अधीन नहीं। यह गति जीवनपर्यन्त बिना प्राणी की इच्छा के होती रहती है।

इस प्रकार मनुष्य में भी दो प्रकार के आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है।

मनुष्य का उठना-बैठना, सैर करने जाना अथवा दूकान पर जाना एक के अधीन है। यह आत्मतत्त्व जो इच्छा से उठता, बैठता, दूकान पर जाता है, जीवात्मा कहाता है। और जो आत्म-तत्त्व मनुष्य के हृदय को चलाता है वह

परमात्म-तत्त्व है।

इस प्रकार तर्क करते हुए ब्रह्मसूत्र में दर्शनाचार्य कहता है—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥ (ब्र० सू० १-२-११)

अर्थात्—शरीर की गुहा में प्रविष्ट दो आत्म-तत्त्वों की सिद्धि होती है, उक्त विवेचना से।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से जीवात्मा की सिद्धि भी की गई है। आत्म-तत्त्व भी अक्षर है, अर्थात् अविनाशी है।

यह मनुष्य के कुछ ऐसे कर्मफलों को प्राप्त करते हुए देखने से अनुमान किया जाता है जिनका स्रोत प्राणी के वर्तमान जन्म से प्रतीत नहीं होता।

उदाहरण के रूप में कोई आत्मतत्त्व किसी पशु के शरीर को अथवा किसी कीड़े-मकोड़े के शरीर को पाता है और कोई किसी राजा, रईस अथवा धनाढ्य के घर में जन्म लेता है, अथवा कोई मनुष्य जन्म से ही अन्धा अथवा अंगहीन होता है। यह अकारण होता है अथवा किसी ऐसे कारण से होता है, जो वर्तमान जीवन के साथ सम्बन्ध नहीं रखता? इस प्रकार मानना पड़ता है कि वर्तमान जीवन में अपाहिज शरीर में निवास करनेवाला आत्मा इस जन्म से पूर्व कुछ अधर्माचरण करता रहा है।

इससे एक ही जीवात्मा का जन्म-जन्मान्तर तक चलना मानना पड़ता है।

नास्तिक, जो जीवन-तत्त्व और कर्मफल को नहीं मानते और जगत् में सब-कुछ घटनावश मानते हैं, वे इस प्रकार पशु-योनि अथवा किसी अंग से हीन मानव-योनि पानेवाले जीवात्मा को मानते ही नहीं।

आस्तिक की युक्ति यह है कि इस प्रकार की घटना अकारण मानना बुद्धिगम्य नहीं है। बुद्धि इस बात को स्वीकार करने पर विवश करती है कि आत्मतत्त्व जो जीव में कर्म करता, दिखाई देता है, वह भी अनादि काल से चला आ रहा है।

इस आत्म-तत्त्व का और परमात्म-तत्त्व का आदि-अन्त कहाँ है? इस पुस्तक का यह विषय नहीं। यह अध्यात्म-ज्ञान का विषय है। अतः इस विषय पर इस पुस्तक में नहीं लिखा जा रहा है।

अभी तक हमने परमात्मा और जीवात्मा दो अक्षर पदार्थों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि की है।

चतुर्थ अध्याय

प्रकृति

तीसरा अनादि (अक्षर) पदार्थ वेद में प्रकृति माना है। एक वेदमंत्र है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

(ऋ० १-१६४-१)

अर्थात्—इस सुन्दर बूढ़े होने वाले के मध्य में एक (कर्म करनेवाला) है जो भोग करता है। एक तीसरा भाई भी है जो ऊपर के दोनों की रक्षा और पालन करता देखता है। वह अपने सात पुत्रों (प्राणों) के साथ है।

हम उस भ्राता का जो प्राणी के सुन्दर और वृद्धता को प्राप्त हो रहे शरीर में कर्म कर रहा है, उल्लेख तृतीय अध्याय में कर आए हैं।

इसी प्रकार तीसरे भाई, जो पूर्ण संसार की रक्षा और पालन कर रहा है, का वर्णन हम इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में कर आए हैं। ये दोनों आत्म-तत्त्व जीवात्मा और परमात्मा के नाम से स्मरण किए जाते हैं।

इस मंत्र में तीसरे तत्त्व का कथन है। वह जो प्राणी के सुन्दर और बूढ़ा हो रहे शरीर का बनानेवाला है उसका वर्णन आरम्भ हो रहा है।

प्राणी के शरीर को सुन्दर कहा है। सुन्दर से अभिप्राय है विचित्र, अद्भुत कार्य करने की सामर्थ्यवाला। प्राणी का शरीर अभी तक मनुष्य, बिना उस प्रक्रिया के जो प्रकृति ने निश्चय की है, नहीं बना सका। इसी कारण इसे सुन्दर और बूढ़ा होने वाला कहा है।

मनुष्य-शरीर का ही उदाहरण लिया जा सकता है। यह एक बहुत ही कुशल मशीन है जो अनेक प्रकार के काम कर सकती है। यह शरीर, कहा है जीवात्मा और परमात्मा का भाई है। भाई से अभिप्राय एक ही स्थिति के, सम वयस् के, पदार्थ हैं।

वर्तमान विज्ञान परमात्मा और आत्मा की भाँति प्रकृति के विषय में भी कुछ नहीं जानता। उदाहरण के रूप में यहाँ 'एन्साक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में

एक वैज्ञानिक द्वारा लिखा निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है—

In 1948 an entirely new and revolutionary theory was proposed in Cambridge, Eng., by H. Bondy, T. Gold and F. Hoyle, which, apart from its purely philosophical and mathematical merits, also circumvented the above-mentioned (and now non-existent) discrepancy between the age of the universe as estimated from recession velocities and the age given by astrophysical and geological data. The new theory, known as steady–state cosmology–assumes that progressive dispersal of galaxies does not lead to rarefaction of the space of the universe because their place is taken by younger galaxies which condense from new matter that is being continuously created (from nothing) all through the inter-galactic space.

–Enc. Brit., Vol. 6, 1967, Page 579

इसके लिखनेवाले ने किसी अन्य विषय पर लिखते हुए कह दिया है कि गैलेक्सियाँ (आकाशगंगाएँ) शून्य से बनी हैं।

इसी प्रकार आइंस्टाइन की कल्पना कि यह जगत्-रचना एक महान् धमाके से आरम्भ हुई और धमाका किसमें हुआ, क्यों हुआ, का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विषय में एक वैज्ञानिक प्रश्न करता है—

"What caused this big bang to take place? Unfortunately, this is not a question that cosmologists are equipped to answer at present....."

यह मिस्टर रॉबर्ट एम० वाल्ड, असिस्टेन्ट प्रोफेसर (Enrico Fermi Institute and in the Deptt. of Physics, University of Chicago) ने अपने लेख 'जगत् के स्वरूप' पर लिखते हुए पूछा है—

यही प्रोफेसर आगे लेख में कहता है—

"This is because general relativity presently is an incomplete theory in the sense that it neglects certain effects in the realm quantum of mechanics, that branch of physics that deal with the properties of matter on the atomic and sub-atomic level."

–Science And The Future– Year Book 1980, Page 94

इन दोनों उद्धरणों का हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

प्रोफेसर वाल्ड पूछते हैं—"किसने बड़ा धमाका किया? दुर्भाग्य से यह एक ऐसा प्रश्न है जो कॉस्मोलोजिस्ट (विश्वरचना-ज्ञान के विद्वान्) अभी उत्तर देने की योग्यता नहीं रखते।....

"यह इस कारण कि समानान्तर रेलेटिविटी का सिद्धान्त अभी अपूर्ण है। यह इस दिशा में कि यह क्वान्टम की कार्य-पद्धति में कुछ बातों को छोड़ रहा है। यह भौतिक विज्ञान का वह अंश है जो ऐटम के और ऐटम से छोटे स्तर के कणों पर प्रकाश डालता है।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान विज्ञान ऐटम से छोटे कणों के विषय में कुछ नहीं जानता।

वेद-विज्ञान ऐटम से बहुत सूक्ष्म पदार्थ के विषय में बतलाता है। इसे मूल प्रकृति प्राइम-ऑर्डियल मैटर कहते हैं।

इसी प्रकार आइंस्टीन का यह कथन कि 'विश्व सीमित है' पर सन्देह करने लगे हैं। हमारा कहना है कि विश्व के विषय में और वर्तमान जगत्-रचना से पूर्व के विषय में वर्तमान विज्ञान कुछ नहीं जानता।

वेद में इसका उल्लेख इन दो मंत्रों में है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋ० १०-१२९-१,२)

इन मंत्रों में कहा है—पूर्व में (वर्तमान रचना से पहले) वहाँ कुछ भी व्यक्त रूप (रूपवान्) 'सत्' नहीं था। सब-कुछ असत् (रूप-रहित) ही था। वहाँ रज (कॉस्मिक डस्ट) भी नहीं था। न ही सीमावाला कोई स्थान था जिस सीमा के पार कुछ हो सकता था, अर्थात् सीमा रहित स्थान था। और क्या था जो पूर्ण स्थान पर व्याप्त था? किस पर यह सब स्थित था?

मंत्र में इन प्रश्नों का अभिप्राय यह है कि स्थान सीमा-रहित है। इस स्थान में क्या व्याप्त था उसका उत्तर अगले मंत्र में है। इसका अर्थ है—

उस स्थान में, कुछ टूट-फूट नहीं रहा था, न ही वहाँ कुछ न टूटने योग्य

था। वहाँ दिन और रात भी नहीं थे (अर्थात् सूर्य नहीं था)। वहाँ शक्ति स्थिर, अचल अवस्था में (आनीत् अवातम्) थी और उसके साथ स्वधा (सैल्फ-सस्टेण्ड) वस्तु थी। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था जो जाना जा सकता हो।

अचल शक्ति का अभिप्राय है—शक्ति ठहरी हुई (पोटैन्शियल फॉर्म ऑफ एनर्जी) अवस्था में थी। साथ ही अपने-आप में स्थिर एक पदार्थ था। ये प्रकृति के साम्यावस्था में परमाणु थे। इनके विषय में आगे चलकर बताएँगे। यहाँ इतने से ही अभिप्राय है कि ये दो पदार्थ थे।

इन दोनों पदार्थों की व्याख्या वेद में ही की गई है। इसका इसी सूक्त के अगले मंत्र में वर्णन है—

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वापिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

(ऋ० १०-१२९-३)

अर्थात्—वहाँ पूर्ण अन्धकार था और उस सर्वत्र व्यापक अंधकार में एक तरल पदार्थ (सलिल) सर्वत्र अतिसूक्ष्म उपस्थित था। तब वहाँ एक महान् महिमावान् प्रकट हुआ। वह चलायमान करनेवाला परमात्मा था।

वह जो 'आनीत् अवातम्' पहले मंत्र में कहा है और जो दूसरे मंत्र में 'महान् प्रकट' कहा जाता है वह प्राण, अश्व, अर्वा, वाजि इत्यादि नामों से स्मरण किया जाता है।

अश्व का अर्थ वैदिक भाषा में उस शक्ति को माना है जो जगत् के रचनाकार्य को तेज गति से चलाता है। इसी का उक्त दोनों मंत्रों में कथन है। ऋग्वेद १०-१२९-२ मंत्र में इसे 'आनीत् अवातम्' अर्थात् निश्चल शक्ति कहा है। यह नाम तब था जब रचना के पूर्व प्रलय-काल था।

इस समय महान् प्रकट हुआ (ऋ १०-१२९-३)। यहाँ उसी 'आनीत् अवातम्' के प्रकट होने का कहा है। वेद में एक अन्य स्थान पर इस प्रकार वर्णन किया है—

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥

(ऋ० १-१६३-१)

अर्थात्—आदि में (रचना-कार्य के आरम्भ के समय) एक उत्पन्न हुआ अपने अनादि कारण से, और ऊपर उठता हुआ फैल गया। घोर शब्द करता हुआ वह बाज की बाहों और हिरण की टाँगों के वेग से फैल गया।

इस मंत्र में उसी का कथन है जिसे ऋ० १०-१२९-३ में 'महान् प्रकट हुआ' कहा है, अथवा जिसका ऋ० १०-१२९-२ में प्रलयकाल में 'आनीत् अवातम्' कहकर कथन है।

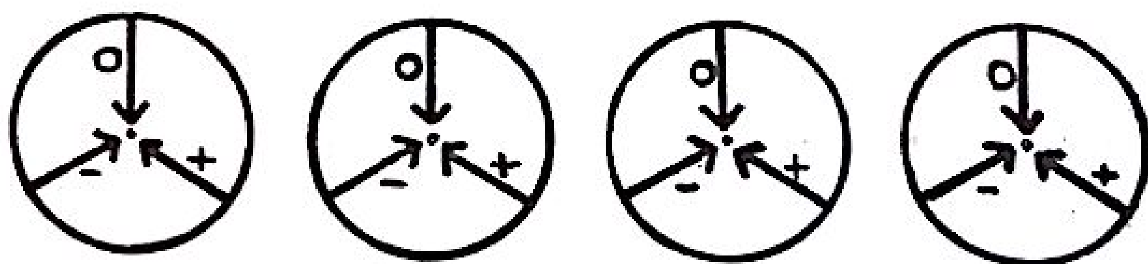
हमने ऋग्वेद (१०-१२९-३) में यही तो बताया है कि उस समय जब वह महान् तेजस्वी उत्पन्न हुआ, पूर्ण स्थान घिरा हुआ था एक अत्यंत सूक्ष्म सलिल पदार्थ से (सलिल के अर्थ किए हैं तरल। अर्थात द्रव की भाँति के पदार्थ को तरल पदार्थ कहा है)। द्रव वह होता है जिसके कण परस्पर असम्बद्ध हों। यही कारण है कि वह पदार्थ बह सकता है। स्वधा—प्रकृति मूल रूप में ऐसे ही नाम से प्रकट की गई है। प्रकृति के कणों को परमाणु कहते हैं। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म, परस्पर असम्बद्ध होने से स्वधा को सलिला कहा है।

ऐसा ही वर्णन सांख्य दर्शन में किया गया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः··· ॥ (सां द० १-६१)

अर्थात्—सत्त्व, रजस् और तमस् तीन शक्तियों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।

एक विद्वान् सुश्रुत मुनि ने समझाया है कि साम्यावस्था से अभिप्राय है कि प्रत्येक परमाणु के भीतर तीन प्रकार की शक्तियाँ परस्पर ऐसे संतुलित होती हैं जैसे लकड़ी तोलने वाले तराजू को लटकाने वाली बांस की त्रिकटी होती है। उसमें तीन बाँस परस्पर एक-दूसरे के ऐसे आश्रित होते हैं कि भारी बोझ पड़ने पर भी वे गिरते नहीं। यही बात प्रकृति के प्रत्येक परमाणु की होती है। इसे इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है—



इस चित्र में गोला परमाणु को बड़ा कर समझाने के लिए दिया है। इसमें तीन शक्तियाँ तीरों से प्रकट की गई हैं—सत्त्व को (+) धन-शक्ति, रजस् को (-) ऋण-शक्ति कहकर और तमस् को (०) शून्य के चिह्न से दिखाया है।

परमाणु में उपादान-तत्त्व भी होता है और उस उपादान पर सत्त्व, रजस् और तमस् तीन शक्तियाँ आरूढ़ होती हैं, और वे परमाणु के भीतर ही संतुलित होती हैं। इस अवस्था को सांख्य ने प्रकृति की साम्यावस्था कहा है। इसे अंग्रेजी भाषा में बैलेन्स्ड स्टेट कहते हैं। इस संतुलित अवस्था के कारण ही प्रकृति का प्रत्येक परमाणु स्वधा कहा गया है। अंग्रेजी भाषा में (सैल्फ सपोर्टिंग) कहा जाता है।

यह प्रकृति की मूलरूप में अवस्था होती है। प्रकृति का प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् अपने-आप में स्वतंत्र होता है और इसके भीतर तीन प्रकार की शक्तियाँ परस्पर संतुलित होती हैं।

प्रकृति का यह रूप अभी तक अतिबलशाली सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) से भी नहीं देखा जा सका। सांख्य के लेखक कपिल मुनि ने कहा है कि अनुमान प्रमाण से वह इसके स्वरूप को जान सका है।

हमारा यह क़हना है कि वर्तमान विज्ञान अपनी आँखों और अपने यंत्रों पर ही निर्भर करता है। वह अभी प्रकृति के इस रूप तक नहीं पहुँच पाया है।

रचना-कार्य

अभी तक हमने जगत् के तीन मूल पदार्थों का वर्णन किया है। उनकी उपस्थिति की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की है। ये तीन मूल पदार्थ इस रचित जगत् के मूल हैं।

अब हम रचना-कार्य के आरम्भ का वर्णन करेंगे। रचना-आरम्भ के समय एक महान् तेजयुक्त शक्ति प्रकट हुई। यह हम चतुर्थ अध्याय में वर्णन कर चुके हैं।

इस शक्ति ने प्रकट होकर क्या किया? यह निम्न मंत्र से स्पष्ट है—

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥

(ऋ० १-१६३-२)

अर्थात्—नियंत्रणकर्ता (परमेश्वर) से दी गई यह लगाम त्रित पर लग गई। इस त्रित में पहले इन्द्र स्थित था। परमाणुओं ने लगाम स्वीकार कर ली और बलवान् तेज से बसे हुए प्रकट हो गए।

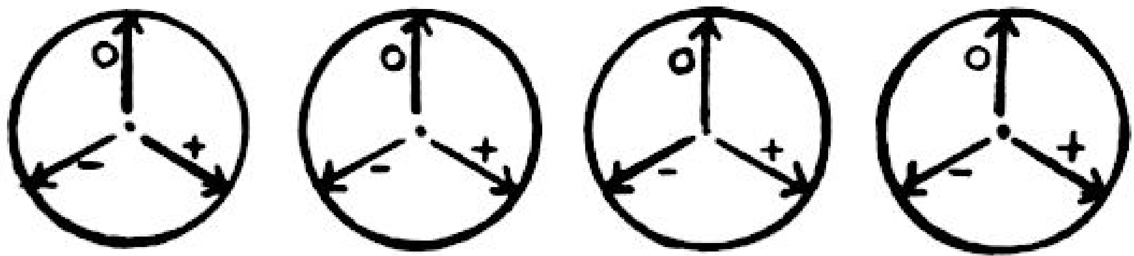
इस मंत्र में लगाम का उल्लेख है। वह लगाम उस शक्ति की है जो इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में कही थी, जो शोर मचाती हुई अन्तरिक्ष में फैल गई थी। वह त्रित पर लगाम की भाँति सवार हो गई। त्रित का अभिप्राय इससे अगले मंत्र में स्पष्ट किया है। कहा है कि तीन शक्तियों के गुप्त संगठन को त्रित कहते हैं।

इसको हम सांख्य दर्शन के इस पद से प्रकट कर चुके हैं—
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

अभिप्राय यह कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीन शक्तियों की संतुलित अवस्था को त्रित कहा है। सांख्य की नामावली में इसे प्रकृति की साम्यावस्था कहते हैं। इसी को हमने चित्र-१ में दिखाया है, अर्थात् त्रित प्रकृति की साम्यावस्था में परमाणु का नाम है।

इस मंत्र (ऋ० १-१६३-२) में यह बताया है कि साम्यावस्था में प्रकृति के परमाणु पर लगाम की भाँति परमात्मा का तेज सवार हो गया। तब 'वसु' बने। वसु, जिन्होंने जगत् की रचना की, ऐसा कहा है। ये प्रकृति की असाम्यावस्था में परमाणु का नाम है।

इसे इस प्रकार चित्रित कर सकते हैं—



तेज की लगाम लगने पर प्रकृति की यह अवस्था हो गई। शक्तियों का मुख परस्पर संतुलन करने के स्थान परमाणु से बाहर को हो गया। यह प्रकृति की असाम्यावस्था है। इस अवस्था में परमाणु को वेदमंत्र में 'वसु' कहा है।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जब भिन्न-भिन्न परमाणुओं के समान प्रकार की शक्तियाँ आमने-सामने आई तो एक-दूसरी को दूर-दूर धकेलने लगी। अब वे कर्म करने लगीं और जब भिन्न-भिन्न परमाणु की असमान शक्तियों आमने-सामने आई तो वे परस्पर आकर्षित होने लगीं। इसका स्वाभाविक परिणाम हुआ, परमाणुओं में गति उत्पन्न हो गई। वे परस्पर आकर्षित हो संयुक्त होने लगे। परमाणुओं की गति का नाम वायु (मोशन) कहा है। इसके विषय में आगे चलकर कहेंगे। यहाँ इतने से ही प्रयोजन है कि परमाणु परस्पर जुड़ने लगे। इस विषय में अगले मंत्र में कहा है—

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥
त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥

ऋ० १-१६३, ३-४॥

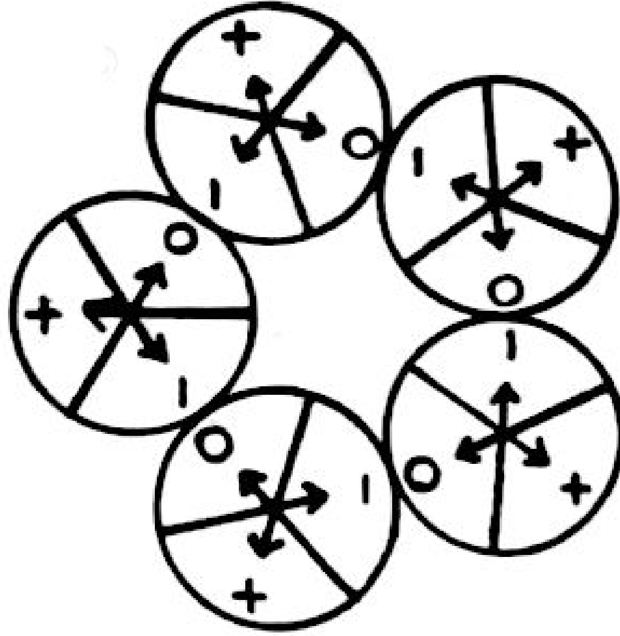
अर्थात्—तू अर्वा— (अर्वा वह शक्ति है जो लगाम बनकर परमाणु पर सवार हो गई थी) नियंत्रणकर्ता है। तू प्रकाशस्वरूप है (और तुम्हारे लगाम में) त्रित

(गुप्त शक्ति से संगठित त्रित) है।

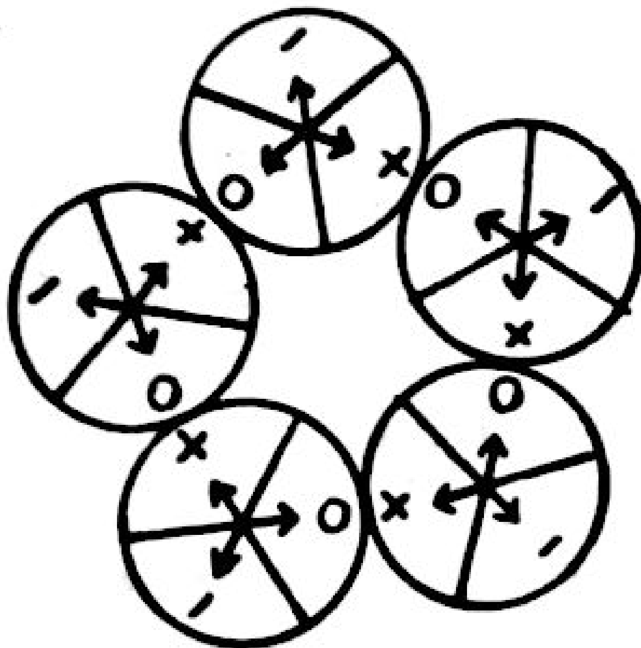
उसकी साम्यावस्था फट गई और तीन दिव्य निबन्धन (संयोग) बन गए।

कहते हैं तीन दिव्य निबन्धन अन्तरिक्ष में बन गए और उनसे ये वरुण (नाम का निबन्धन) छन्द कहने लगा और शेष में सब रचित जगत् बन गया।

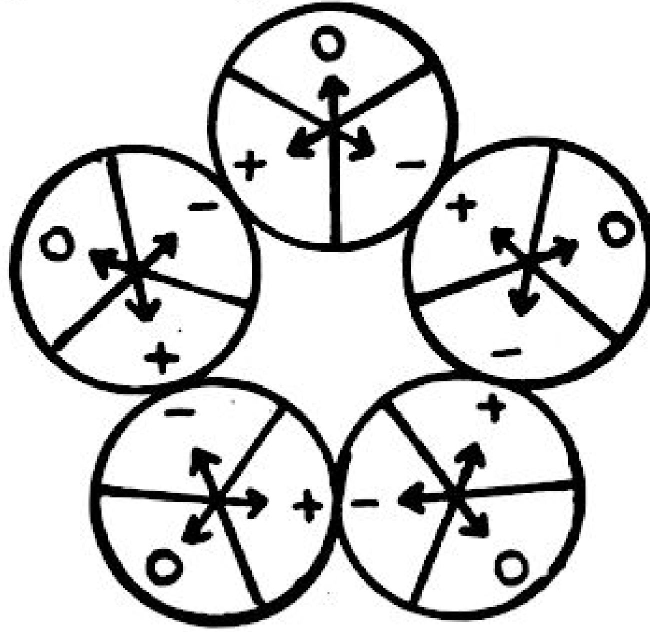
ये बने हुए निबन्धन इस प्रकार चित्रित किए जा सकते हैं—



इस निबन्धन (संयोग) में परमाणुओं की सत्त्व (+) शक्ति बाहर को शेष है, और रजस् तथा तमस् शक्तियाँ निबन्धन के भीतर निःशेष हो रही हैं। अतः निबन्धन सत्त्वगुण-प्रधान है।



उपर्युक्त चित्र (पृष्ठ ३५ पर नीचे) के निबन्धन में रजस् (-) शक्ति सब परमाणुओं पर शेष है। परमाणु की सत्त्व और तमस् शक्तियाँ परस्पर निःशेष कर रही हैं। यह निबन्धन रजोगुण-प्रधान है।



इस निबन्धन में सब परमाणुओं में तमस् शेष है और सत्त्व तथा रजस् शक्तियाँ परस्पर निःशेष कर रही हैं।

सूक्त के मंत्र-संख्या चार में कहा है कि ये निबन्धन अन्तरिक्ष में बनते हैं और पृथिवी पर आते हैं। ये तीन ही प्रकार के हैं। ये क्यों हैं और इनमें क्या भेद हैं, यह हमने चित्रों के माध्यम से प्रकट कर दिया है। तीनों प्रकार के निबन्धनों पर शेष आवेश हैं। एक पर सत्त्व आवेश शेष है, दूसरे पर ऋण आवेश (रजस्) और तीसरे पर शून्य आवश (तमस्) शेष है। वर्तमान विज्ञान में तीन प्रकार के एटॉमिक पार्टिकल जो वैज्ञानिकों ने देखे हैं, वेदभाषा में इनका सांझा नाम 'आपः' है और वर्तमान विज्ञान में इनका नाम 'एटॉमिक पार्टिकल' है। ये तीन अपने पर शेष आवेश के कारण तीन प्रकार के हैं।

वर्तमान विज्ञान में इनसे ऐटम बनते हुए माने जाते हैं और वेद-विज्ञान में इनसे परिमण्डल बनते कहे गए हैं, जिनसे सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं।

इन तीनों निबन्धनों के पृथक्-पृथक् नाम भी हैं। इनका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

यहाँ इसी रचना के विषय में एक अन्य प्रकार से वेद में एक अन्य स्थान पर वर्णन किया गया है। वह यहाँ बता देना चाहते हैं। ऋग्वेद के

(१०-१२९-१, २, ३) मंत्र हमने पहले दिए हैं। इसी सूक्त के तीन आगे के मंत्र देखने से पता चलेगा कि उन मंत्रों में 'त आहुः परमं जनित्रम्' (ऋ० १-१६३-४) की व्याख्या की गई है। मंत्र इस प्रकार हैं—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥

(ऋ० १०-१२९-५,६)

अर्थात्—रचना से पूर्व परमात्मा रचना की कामंना करता हुआ वह सब (परमाणुओं) पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है और तीन रूप हो जाते हैं। उसकी इच्छा ही बीज है। परमाणु से दृश्य जगत् उसकी इच्छा और यत्न से बन जाता है।

अगले मंत्र में कहा है—उसके तेज की रश्मियाँ परमाणु को सब ओर से ऊपर से नीचे इधर-उधर से ढाँप लेती हैं और मनुष्य के लाभ के लिए जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ बना देता है।

यह परमात्मा ही जानता है कि क्या-क्या और कैसे बनता है। बन जाने पर इसमें आत्माएँ आकर वास करने लगती हैं।

वर्तमान विज्ञान भी मानता है कि इन एटॉमिक पार्टिकलों से बने पदार्थों से कथित जगत् की सब वस्तुएँ बनी हैं।

इन एटामिक पार्टिकल जिन्हें वेद में आपः कहा है, के बनने के विषय में हमने वेद-मत ऊपर बताया है। जब परमाणु असाम्यावस्था में हो जाते हैं तो त्रिगुणात्मक इन्द्र की शक्तियों के मुख परमाणु से बाहर को हो जाते हैं और फिर उनमें आकर्षण-विकर्षण के कारण गति उत्पन्न होती है और तब परमाणुओं के निबन्धन बन जाते हैं। ये निबन्धन ही एटॉमिक पार्टिक्ल हैं। वर्तमान वैज्ञानिक अब इनसे भी सूक्ष्म पदार्थ की झलक-सी ही पा सके हैं।

परन्तु वेद में तो इनकी उत्पत्ति प्रकृति के परमाणुओं से मानी गयी है।

वर्तमान विज्ञान की झलक की पहुँच 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में इस प्रकार वर्णन की है—

An Atom of ordinary matter is composed of a

nucleus of positively charged protons and uncharged neutrons that is surrounded by a cloud of orbiting, negatively charged electrons. In 1928, the existence of an elementary particle equal in mass to the electron but bearing a positive electric charge was foreseen by P.A.M. Dirac, in his relativistic quantum theory. This particle, called a positron, was discovered by C.D. Anderson in 1932 in studies of cosmic-ray interactions observed in a Wilson cloud chamber. In 1955 Emilio Segre, Owen Chamberlain and their co-workers at the university of California discovered the antiproton, an elementary particle having the same mass as the proton but carrying a negative charge. In 1956 these men and others at the University of California confirmed the existence of the anti-neutron, a particle identical to the neutron except that its magnetic properties are reversed in sign. Atoms composed of nuclei of antiprotons and antineutrons with orbiting positrons surrounding these nuclei would constitute antimatter.

Antimatter would be completely stable if isolated from ordinary matter; however, if an atom of antimatter were to collide with an atom of ordinary matter, the two would immediately undergo mutual and complete annihilation, with mesons and other unstable particles being created. Within a fraction of a second, all of these unstable particles would be spontaneously transformed into radiant energy—gamma rays (high frequency electro—magnetic radiation) and stable, massless particles called neutrons.

—Ency. Brit. 1967, Vol. 2, Page 69

इसका अर्थ है····

· सामान्य प्रकृति अणु के केन्द्र में धन (+) विद्युत् वाले प्रोटोन और आवेश-रहित न्यूट्रॉन होते हैं। इनके चारों ओर घूमते हुए ऋण (-) आवेश वाले इलैक्ट्रॉन का बादल-सा होता है। १९२८ में एक प्रारम्भिक अणु जिसका द्रव्यमान इलैक्ट्रॉन के बराबर था परन्तु उस पर आवेश धन (+)

विद्युत् का था, एक पी०ए०एम० डिरैक ने, आपेक्षिक क्वान्टम सिद्धान्त के विषय में अनुसंधान करते हुए, देखा। यह कण (अणु) क्वान्टम सिद्धांत से संबंधित है। इसी प्रकार का एक कण जिसका कॉस्मिक नाम पोज़िट्रोन था, पता किया गया था। सी० डी० एन्डरसन ने १९३२ में कॉस्मिक-रे में क्रियाएँ देखते हुए विल्सन क्लाउड के चैम्बर में देखा था। १९५५ में इमीलियो सिगरी, ओवन चेम्बरलेन और उनके साथियों ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में यह पता किया कि प्रोटोन का विपरीत एक प्रारम्भिक अणु उसी द्रव्यमान का है जो प्रोटोन का है, परन्तु जिस पर आवेश ऋण (-) विद्युत् का है। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय ने इस बात का समर्थन किया है, एक ऐसा अणु भी मिलता है जो प्रत्यक्ष रूप में न्यूट्रॉन के बराबर है और आवेश-रहित है, परन्तु उसका चुम्बकीय गुण सामान्य न्यूट्रॉन से विपरीत है।

एक ऐटम जिसके केन्द्र में विपरीत न्यूट्रोन और उसके चारों ओर में विपरीत प्रोटोन मिलते हैं, 'ऐन्टी मैटर' (विपरीत प्रकृति) कहा जाता है।

विपरीत प्रकृति सर्वथा स्थायी होगी यदि सामान्य प्रकृति से पृथक् रखी जाए, परन्तु यदि सामान्य प्रकृति का परमाणु विपरीत प्रकृति के परमाणु से टकरा जाए तो विपरीत प्रकृति का परमाणु अस्थायी होकर टूट जाएगा। यह टूटना पूर्ण होगा और यह एक सेकेण्ड के अंश में ही हो जाएगा। इसमें से शक्ति की किरण जिसे 'गामा रे' कहते हैं निकलेगी और उससे अस्थायी द्रव्यमान-रहित कण बन जाते हैं।

इस 'गामा रे' से अभिप्राय है परमात्मा की शक्ति, और द्रव्यमान रहित कण हैं सत्त्व-रजस्-तमस् आवेश वाले आपः।

वेद में तो पहले ही कहा है कि ये आपः संयोग हैं परमाणुओं के। वेद में इनके नाम भी दिए हैं। वर्तमान विज्ञान में तो इनको इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन कहते हैं और वेद में इनके नामों के विषय में कहा है :

अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था।
ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः॥
द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वय उपस्तुत्यं बृहद्वयः॥

(ऋ० १-१३६-२)

अर्थात्—शक्तिशाली (असाम्यावस्था में) प्रकृति प्राकृतिक नियमों का पालन करती हुई अपने भीतर की शक्ति से चमकने लगती है (सामान्य आँखों को दिखाई देने लगती है)। तब मित्र, वरुण और अर्यमा अन्तरिक्ष में बन जाते हैं। यह एक महान् प्रकृति के भण्डार से बन रहे हैं।

इस प्रकार इस मंत्र (ऋ० १-१३६-२) में कहे परमाणुओं के निबन्धनों के नाम दिए हैं। ये हैं मित्र, वरुण और अर्यमा। वर्तमान विज्ञान में इनके नाम हैं—इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन।

इस अध्याय में हमने निम्न बातें बताई हैं—

१. यह दृश्य जगत् शून्य से उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि शून्य से कुछ नहीं बन सकता।

२. इस दृश्य जगत् का मूल एक स्वधा नाम का पदार्थ था। सांख्य उसे प्रकृति कहता है। वह पदार्थ सलिल (तरल) अवस्था में था, अर्थात् उसके कण परस्पर असम्बद्ध थे, जैसे रेत के कण होते हैं। वे कण बह सकते हैं। परमाणु अव्यक्त रूप में रंग-रहित तथा अतिसूक्ष्म होने से, साथ ही आवेश-रहित होने से प्रत्यक्ष में सूक्ष्मवीक्षण यंत्र (माइक्रोस्कोप) से भी नहीं देखा जा सकता।

३. परमाणु पूर्ण व्योम (स्पेस) में भरे हुए हैं। ये ही पूर्ण जगत् का मूल कारण हैं।

४. रचना से पूर्व व्योम में पूर्ण अन्धकार था और वहाँ कुछ बन-बिगड़ नहीं रहा था।

५. उस समय इस परमाणु-समूह के अतिरिक्त शक्ति सुषुप्ति-अवस्था में थी। इसे वेद में 'आनीत् अवातम्' कहा है।

६. रचना आरम्भ होने पर परमात्मा की कामना से सुषुप्ति-अवस्था में प्रकृति सहसा जागृत हो उठी और अन्तरिक्ष में तीव्र गति से फैल गई। इस शक्ति को उस समय अश्व, अर्वा अथवा वाजी नाम दिया गया है। अश्व इत्यादि का अर्थ है वह शक्ति जो सृष्टि-रचना-कार्य को ऐसे चलाती है जैसे घोड़ा गाड़ी को चलाता है।

७. यह शक्ति परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो गई। परमाणु में पहले इन्द्र अपनी त्रिगुणात्मक शक्ति में छुपा बैठा था। तीनों शक्तियाँ भीतर ही भीतर संतुलित अवस्था में थीं। इसी कारण इस अवस्था में परमाणु

को 'साम्यावस्था' में कहा है।

८. परमात्मा की सजग हुई शक्ति प्रत्येक परमाणु पर लगाम की भाँति सवार हो गई और छुपा हुआ इन्द्र प्रकट हो गया। इसकी शक्तियों के मुख बाहर को हो गए। शक्तियाँ सत्त्व, रजस् और तमस् कहाईं।

९. इन शक्तियों में परस्पर आकर्षण-विकर्षण होने लगा तो परमाणुओं में गति उत्पन्न हुई। यह गति वायु कही जाती है। इसका दूसरा नाम मातरिश्व भी है। गति से परमाणुओं में संयोग बनने लगे। ये संयोग 'निबन्धन' कहे जाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं और आपः कहे जाते हैं। इन पर शेष आवेश से, ये तीन प्रकार के हैं। सत्त्व विद्युत् प्रधान, धन विद्युत् आवेश वाले निबन्धन प्रोटोन तथा वरुण कहे जाते हैं। रजस् गुण प्रधान, ऋण विद्युत् आवेश वाले मित्र और इलैक्ट्रॉन कहे जाते हैं। तमस् गुण प्रधान शून्य आवेश वाले अर्यमा (प्रोटोन) कहे जाते हैं।

१०. यह वेद में कहा है कि वरुण वेद के छन्दों के उच्चारण में सहायक होते हैं। ये तीनों आपः जगत् की रचना करते हैं।

११. परमात्मा की शक्ति, जिसे तेज, अश्व, अर्वा नामों से स्मरण किया गया है, रचना-कार्य को ऐसे चलाती है, जैसे घोड़ा गाड़ी को खींचकर ले जाता है।

षष्ठ अध्याय

रचना-कार्य (जारी)

सृष्टि-रचना-कार्य उस समय आरम्भ हुआ था जब परमात्मा का तेज सुषुप्ति-अवस्था से सजग-अवस्था में आया था। यह कब हुआ था? इसके विषय में वेद में उल्लेख किया गया है। यह माना है कि रचना और विघटन, एक के बाद दूसरा कार्य होता रहता है। जिस काल में जगत् निर्मित रहता है उसे ब्रह्म-दिन कहते हैं, और जिस काल में वह विघटन की ओर जा रहा होता है यह ब्रह्म-रात्रि कहाती है।

गीता में ब्रह्मदिन और ब्रह्मरात्रि की अवधि के विषय में कहा है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्ता तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

(भ०गी० ८-१७)

अर्थात्—सब दृश्यमान् जगत् एक सहस्र चतुर्युगों तक होता है। इसे ब्रह्म-दिन कहा जाता है। ब्रह्मरात्रि भी एक सहस्र चतुर्युग की अवधि तक रहती है।

सब दृश्यमान् जगत् ब्रह्मदिन के समय में अदृश्यमान् से उत्पन्न हो जाता है और रात्रि के आ जाने पर उस अदृश्यमान् में ही लुप्त हो जाता है।

एक चतुर्युगी कितनी लम्बी होती है इस विषय में अथर्ववेद का एक सूक्त है। इस सूक्त में बताया है कि सृष्टि को धारण करने वाले ने क्या-क्या अपने धारण करने के लिए बनाया है। धारण करनेवाले के लिए पदार्थ का वेद में शब्द है स्कम्भ। इसका वर्णन करते हुए वेद में कहा है—

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥

(अथर्व० ८-२-२१)

अर्थात्—दस सहस्र को सौ बार करने से और उसके पूर्व में दो, तीन और चार लगाने से उस अवधि का पता चलता है जो प्रजापति ने मनुष्य को

जीने के लिए सृष्टि की नियत की है। वह इसमें इन्द्र, अग्नि और प्रसिद्ध देवताओं के अनुकूल रहता हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है। अभिप्राय यह है कि जगत् की अवधि दी है जो मनुष्य को जगत् के पदार्थों का भोग करने के लिए है।

यह बनती है १०,००० × १०० और इसके पूर्व दो, तीन, चार लगाने से संख्या बनती है—४,३२,००,००,००० वर्ष। यह अवधि है ब्रह्मदिन की। इतनी ही अवधि की ब्रह्मरात्रि होती है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह कैसे पता चला? भारतीय ज्योतिषशास्त्र ने तो यह कहा है कि नक्षत्रों की गतियों से यह अनुमान लगाया गया है। वैसे तो वर्तमान वैज्ञानिक भी सृष्टि की आयु का अनुमान कई ढंग से लगाते रहे हैं और लगाते रहेंगे। उदाहरण के रूप में कुछ वैज्ञानिकों ने सूर्य-ताप से पृथ्वी की आयु १,००,००,००,००,००,००० वर्ष आँकी है।

अब पदार्थ की 'रेडियो ऐक्टविटी' के निस्तारण से 'रेडियॉलॉजिस्ट' ने पृथिवी की आयु चार अरब साठ करोड़ वर्ष आंकी है। ये आंकड़े हमने उदाहरण के रूप में दिए हैं। वेद के आंकड़े पृथिवी की आयु के नहीं वरन् जब से परमात्मा की शक्ति से परमाणु पर लगाम लगी है तब से हैं। वेद ने बता दिया है कि यह सृष्टि-रचना इतने वर्ष तक बनी रहेगी।

पूर्ण ब्रह्मदिन की अवधि बताई है ४,३२,००,००,००० वर्ष, परन्तु ब्रह्मदिन अभी पूरा नहीं हुआ। इसमें से, भारतीय ज्योतिषियों के अनुसार, लगभग १९,६०,००,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। वर्तमान विज्ञान इससे मतभेद रखता है, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिकों का मतभेद तो इस बात पर भी है कि वेद-प्रमाण में पूर्ण ब्रह्मदिन की अवधि बताई है। पूर्ण ब्रह्मदिन में एक हजार चतुर्युगियाँ होती हैं। इस समय लगभग आधा ब्रह्मदिन से कुछ कम व्यतीत हो चुका है।

प्रकृति के परमाणु से सृष्टि-रचना की यात्रा चली है और परमाणु से इन्द्र का प्रकट होना, फिर असाम्यावस्था में परमाणु में गति और उससे निबन्धनों का बनना हमने बताया है। हमने यह भी बताया है कि निबन्धन तीन प्रकार के हैं। यह भी बताया है कि वर्तमान विज्ञान और वेद-विज्ञान में यहाँ से समानता आरम्भ होती है। मित्र आपः है इलेक्ट्रॉन, वरुण आपः है

प्रोटोन और अर्यमा आपः है न्यूट्रॉन।

इन आपः से 'ऐटम' बनता है। वेद में ऐटम का पृथक् नाम नहीं दिया। इनको आपः ही माना है। ऐटम और आपः का सांझा नाम है अणु। इनको एक ही श्रेणी में रखने का कारण हम आगे चलकर बताएँगे।

फिर भी ऐटम के प्रकार के एक अणु बनने का कथन वेद में है और इसका नाम मरुत से पृथक् वैशेषिक दर्शन में बताया है।

आपः (मित्र, वरुण और अर्यमा) से ऐटम बनते हैं। वैशेषिक दर्शन में इसका नाम परिमण्डल कहा है और इसके स्वरूप की ओर ब्रह्मसूत्रों में संकेत है। वहाँ कहा है—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥ (ब्र० सू० २-२-११)

इसका अर्थ है—महत् के दीर्घ ह्रस्व के (आप) चारों ओर परिमण्डलीय गति से भ्रमण करते हैं। दीर्घ आपः हैं भारी आपः। ये हैं वरुण और अर्यमा। ह्रस्व आपः हैं लघु आपः। ये हैं मित्र आपः।

परिमण्डलीय गति से ही इन अणुओं का नाम परिमण्डल पड़ा है। ये वर्तमान विज्ञान के ऐटम हैं।

हमने बताया है कि मित्र आपः परिमण्डलीय गति से वरुण और अर्यमा आपः के चारों ओर घूमने लगते हैं। परिमण्डल्य गति को अंग्रेजी में एलिप्टिकल मूवमैंट कहते हैं। सौर-जगत् के सब नक्षत्र सूर्य के चारों ओर इसी गति से घूमते हैं। इसी प्रकार एक ऐटम में मित्र आपः वरुणादिक के चारों ओर घूमते हैं। ये किस प्रकार बनते हैं, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बत्तीसवें सूक्त में इसका वर्णन मिलता है।

इस (ऋ० १-३२) में यह बताया है कि 'ऐटम' बनाना इन्द्र का सर्वप्रथम शौर्य का काम है। आपः इन्द्र की ही सन्तान हैं। इस कारण आपः के काम को इन्द्र का काम कहा है।

हमने बताया है कि मित्र आपः पर ऋण (-) विद्युत् का आवेश, और वरुण आपः पर धन (+) विद्युत् का आवेश होता है तथा अर्यमा आवेश-रहित होता है। परिणामस्वरूप मित्र और वरुण दोनों, अर्यमा को अपनी ओर आकर्षित करने लगते हैं। इस प्रकार अर्यमा-आपः के लिए मित्र और वरुण में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इस संघर्ष का परिणाम यह होता है

कि मध्य में वरुण-आपः अर्यमा-आपः को घेरे में ले लेते हैं और मित्र-आपः इस मध्य के समूह के चारों ओर चक्कर काटने लगता है।

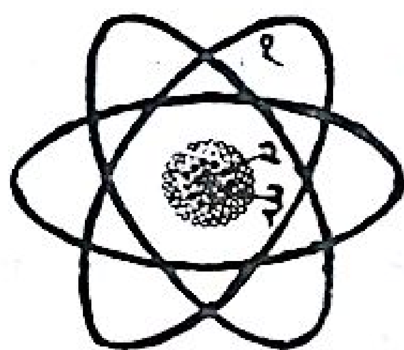
यह पूर्ण संघर्ष (ऋ० १-३२) में वर्णन किया है, और संघर्ष के अन्त में जो स्वरूप बनता है वह इस सूक्त के दसवें मन्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घंतम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

(ऋ० १-३२-१०)

अर्थात्—चारों ओर अस्थिर और बदलते मार्गों से ह्रस्व (मित्र-आपः) परिधि में घूमने लगते हैं और उनके मध्य में वरुणों के घेरे में शान्त अर्यमा पड़े रहते हैं।

इसका रूप चित्रवत् इस प्रकार हो जाता है—



१. मित्र = इलेक्ट्रॉन
२. वरुण = प्रोटोन
३. अर्यमा = न्यूट्रॉन

यह वर्तमान विज्ञान के ऐटम का स्वरूप ही है।

इसी सूक्त का अगला मंत्र इस प्रकार है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः यणिनेवगावः।
अपां विलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां अप तद् ववार॥

(ऋ० १-३२-११)

अर्थात्—वृत्र-आपः तमस-आपः को ऐसे घेरे में रखते हैं जैसे गौओं के रक्षक गौओं को बन्द कर रखते हैं। जब इन्द्र अर्थात् मित्र आपः जो सीमा पर घूम रहे होते हैं, वृत्रों पर प्रहार कर उनकी हत्या करते हैं।

अभिप्राय यह कि उनको आवेश-रहित कर देते हैं। तब बाढ़ टूट जाती है और घेरे से तमस् (न्यूट्रॉन) निकलकर बहने लगते हैं।

इस प्रकार मित्र और वरुण के परिमण्डल में बने रहने पर तमस् मात्रा में कमी हो जाती है, अर्थात् कर्मशील मित्र और वरुण की संख्या बनी रहने पर परिमण्डल के गुण तमस् कम हो जाते हैं—अर्थात् परिमण्डल के गुणों में अन्तर न आने पर भी परिमण्डल का द्रव्यमान कम हो जाता है।

यह है प्रक्रिया जिससे आइसोटोप्स बनते हैं। आइसोटोप्स उन परिमण्डलों को कहते हैं जो रासायनिक गुणों में समान होते हुए भी परिमण्डलीय भार में भिन्न-भिन्न होते हैं।

वृत्र का अर्थ है ढाँपनेवाला। एक परिमण्डल में वरुण-आपः तमस् आपः को घेरे रहते हैं। इस कारण वे वृत्र ढाँपनेवाले वरुण ही होते हैं। उन पर धन (+) आवेश होने के कारण वे मित्र के विरोधी होने से मित्र-शत्रु बन जाते हैं। मित्र-शत्रु ही इन्द्र-शत्रु भी कहे जाते हैं, क्योंकि मित्र इन्द्र का मुख्य कार्य करनेवाला होने से इन्द्र भी कहा जाता है।

इस परिमण्डल के विषय में भी वेद में वर्णन है। यद्यपि परिमण्डल को भी अणु ही कहा जाता है, जैसे आपः को अणु कहा जाता है। परमाणु से बड़े कण का अणु आपः कहा जाता है। आपः (atomic particles) और परिमण्डल को एक ही श्रेणी का अणु माना जाता है। कारण यह कि आपः और परिमण्डल में एक समान बात है। दोनों प्रकार के ये कण (आपः और परिमण्डल) आवेशयुक्त होते हैं।

आपः तीन प्रकार के होते हैं—धन (+) आवेश वाले, ऋण (-) आवेश वाले, और आवेश-रहित (०) तमस् अथवा अर्यमा।

इसी प्रकार परमाणु के भी कुछ आवेश होते हैं।

उदाहरण के रूप में हाइड्रोजन के एक परिमण्डल पर धन-विद्युत् का आवेश होता है। हाइड्रोजन का संकेत है—H और यह लिखा जाता है H^1। ऊपर की रेखा का अभिप्राय है कि इस पर एक मात्रा धन-आवेश होता है। हाइड्रोजन के एक परिमण्डल पर आवेश की मात्रा एक मानी जाती है।

ऑक्सिजन का सांकेतिक नाम है—O"।O ऑक्सिजन का संकेत है और इस पर दो बिन्दु आवेश की मात्रा के द्योतक हैं। अतएव क्लोरीन पर धन आवेश एक मात्रा भी होता है। इसका सांकेतिक नाम Cl^1 लिखा जाता है। इसी प्रकार एल्युमिनियम Al^1 एक मात्रा आवेश से इस प्रकार लिखा

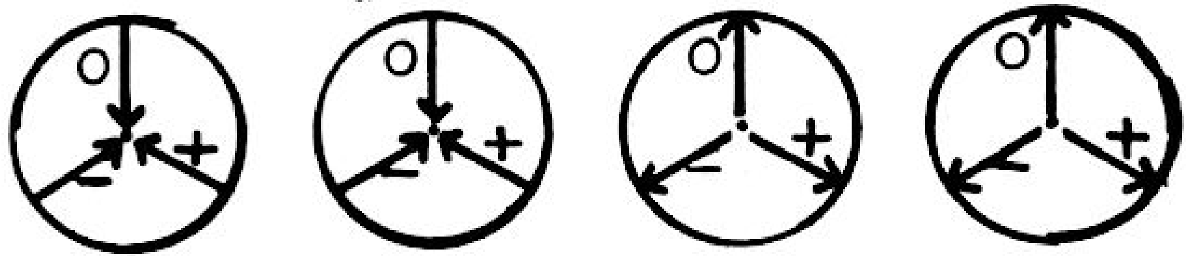
जाता है।

परिमण्डल के समूह को रासायनिक तत्त्व (कैमिकल एलिमैंट्स) कहते हैं। इस रूप में हाइड्रोजन वायु एक बर्तन में जमा भी की जा सकती है। वायु के रूप में इसका सांकेतिक नाम होगा—H_2। दो परिमण्डलों के मिलने से यह आवेश-रहित मानी जाती है। इसी प्रकार ऑक्सीजन वायु O_2 के रूप में नीचे दो का अंक लगाकर लिखी जाती है।

इस सब वृत्तान्त से यह अभिप्राय है कि परिमण्डल अकेला-अकेला तो आवेशयुक्त होता है जैसे आपः आवेशयुक्त होते हैं। इस कारण परिमण्डल का एक कण भी परमाणुओं का ऐसे ही समूह होता है जैसे आपः होते हैं। आपः भी ऋण आवेश और धन-आवेश वाले होते हैं। इसी प्रकार परिमण्डल भी धन-आवेश वाले और ऋण-आवेशवाले होते हैं। वैदिक परिभाषा में ये एक ही श्रेणी (अणु) में कहे जाते हैं।

इस कारण वेद की परिभाषा में आपः और परिमण्डल एक ही श्रेणी में कहे जाते हैं।

अभी तक हमने मूल प्रकृति की साम्यावस्था का रूप वर्णन किया है।



इस साम्यावस्था से मूल प्रकृति की असाम्यावस्था बनती है। उसका रूप—सत्त्व, रजस् और तमस् बहिर्मुख हो जाते हैं। एक परिमण्डल में तीनों आवेश बहिर्मुख हो जाते हैं। वेद-भाषा में यह त्रिगुणात्मक प्रकृति कही जाती है।

इस बहिर्मुख-आवेशों के कारण परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण से निबन्धन बनते हैं जिनको आपः कहा जाता है। इनके तीन प्रकार के रूपों को हमने पंचम अध्याय में बताया है। आपः तीन प्रकार के होते हैं—मित्र, वरुण और अर्यमा।

हमने इस षष्ठ अध्याय में आपः से परिमण्डल बनने का वर्णन किया है। परिमण्डल-समूहों को रासायनिक तत्त्व कहते हैं।

अनुमान प्रमाण

एक प्रश्न, जो वर्तमान वैज्ञानिकों को परेशान करता रहता है, वह यह है कि उस वैदिक काल में जब प्रयोगशालाएँ नहीं थीं, न ही वर्तमान युग के उपकरण बने थे, ये सब बातें जो इन प्रयोगशालाओं और नवीनतम उपकरणों से पता लगाई गई हैं, कैसे पता लग गई ?

वेद की बात छोड़ कर भी इन पदार्थों का पता सांख्य दर्शन और ब्रह्मसूत्र के लेखकों को था। हमने वेद और दर्शनशास्त्रों के उद्धरण इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं। हमनें यह भी बताया है कि तर्क शक्ति से और अनुमान प्रमाण की सहायता से यह सब पता किया गया था।

वेद तो सांख्य से पहले के ग्रंथ माने जाते हैं। वर्तमान इतिहासज्ञों के विचार से वेद आज से चार-पाँच हजार वर्ष पहले कहे गए हैं। वैसे भारतीय परम्परा से वेद का आविर्भाव मानव-सृष्टि के आदि में माना जाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार मानव सृष्टि आज से लाखों वर्ष पूर्व हुई मानी जाती है।

यह इतिहास का विषय है। अतः इस विषय पर हम इस पुस्तक में नहीं लिख रहे हैं। परन्तु यहाँ हम यह कह सकते हैं कि उस प्राचीन काल में भी, जब वर्तमान ज्ञान के साधन नहीं थे, तब भी वह सब-कुछ पता किया गया था जो आज अरबों रुपयों के साधन होने पर भी अभी तक पूर्णरूप से पता नहीं चला। हम यह बता चुके हैं कि प्रकृति के परमाणु और उनसे आपः के बनने की प्रक्रिया के विषय में वर्तमान विज्ञान कुछ नहीं जानता।

एक मद्धम-सी झलक वर्तमान विज्ञान को आपः से पूर्व स्थिति की अब मिली है। वह भी स्पष्ट नहीं है। इसकी ओर संकेत हम कर चुके हैं।

अतः प्रश्न है कि यह सब उस समय कैसे पता चल गया? सांख्य-दर्शन और ब्रह्मसूत्र इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं।

हमने अनुमान प्रमाण से अज्ञात वस्तुओं को जानने का ढंग अध्याय दो में लिखा है।

वेद में तो केवल वर्णनात्मक वृत्तान्त है, परन्तु दर्शनशास्त्रों में वेद में कही बात तर्क से सिद्ध की गई है।

उदाहरण के रूप में हमने सांख्य दर्शन में प्रकृति की सिद्धि के विषय में कहा है। ब्रह्मसूत्रों में एक सूत्र है —

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्॥ (ब्र० सू० १-२-१)

अर्थात्—जो सर्वत्र प्रसिद्ध है उसके कथन से।

उसके कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है। क्योंकि यह ब्रह्मसूत्र का कथन है, इस कारण इस ग्रन्थ का प्रवक्ता ब्रह्म की सिद्धि का कथन कर रहा है। ब्रह्म का अभिप्राय सृष्टि के तीनों मूल पदार्थ— परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति से है।

ब्रह्मसूत्र में इन तीनों की सिद्धि सृष्टि पर विचार करने से की है। इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति इत्यादि के रहस्य को जानने के लिए यह कार्य-जगत् एक अतिश्रेष्ठ प्रयोगशाला है।

अब हम यहाँ सांख्य दर्शन में, इसी प्रयोगशाला अर्थात् कार्य-जगत् के दर्शन से यह सिद्ध करेंगे कि जीवात्मा है अथवा नहीं—

सामान्येन, विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम्॥ (सां० द० १-१३८)

अर्थात्—सामान्य रूप में (आत्मा है अथवा नहीं के) विवाद में (पदार्थ के) धर्म जैसा (अधिक श्रेष्ठ) कोई साधन नहीं।

इसका अभिप्राय है कि आत्मतत्त्व को जानने के लिए, अर्थात् जीवात्मा है अथवा नहीं को जानने के लिए, लोक का अध्ययन करना चाहिए।

धर्म पदार्थ के उस गुण को कहते हैं जिससे कार्य होता है। कर्म करने वाले पदार्थों को जानने का साधन उसके कर्म करने की योग्यता का अध्ययन है।

इस सूत्र में तो केवल यह बताया है कि जगत् के पदार्थ में हो रहे कर्मों का अध्ययन करने से उनमें कार्य करनेवाले का पता चलता है। यह एक सिद्धान्त का निरूपणमात्र है। आगे कहा है—

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्॥ (सां० द० १-१३९॥

अर्थात्—शरीरादि में जो भिन्नता है उसमें, जीवात्मा की है।

कार्य-जगत् में शरीरी और अशरीरी दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं।

शरीरी वह है जो अन्न खाकर वृद्धि अथवा जीवन पाता है। जीवन का अभिप्राय है इच्छा-द्वेष, अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों के साथ। सुखकारक पदार्थों को स्वीकार करना और नापसन्द को अस्वीकार करना। इच्छा करना और द्वेष करना।

इसी प्रकार शरीरी में सुख एवं दुःख की अनुभूति होती है। शरीर में सुई चुभोई जाए तो यह दूर हटता है और प्यार दो तो समीप आता है। इसी प्रकार कटु पदार्थ थूक दिए जाते हैं और मीठे पदार्थ स्वाद से खाए जाते हैं। सुन्दर दिखाई देने वाले रूप पसन्द किए जाते हैं और असुन्दर नापसन्द किए जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्रिया करनेवाले पदार्थों से जीवात्मा की सिद्धि होती है। यह शरीर-शरीर में भिन्न-भिन्न हैं। आगे कहा है—

संहतपरार्थत्वात्॥ (सां० द० -१-१४०)

अर्थात्—संयोग किसी दूसरे के लिए होता है।

यहाँ संयोग का अभिप्राय शरीर के संगठन से है। उदाहरण के रूप में शरीर में हाथ-पाँव आदि का संगठन आँख-कान आदि से है। आँख किसी भयानक वस्तु को देखती है तो पाँव शरीर को लेकर भाग खड़े होते हैं। कहीं मधुर संगीत की ध्वनि आती है तो पाँव उसको सुनने के लिए उधर चल पड़ते हैं। इसी प्रकार के अंगों का संयोग शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए होता है। वह जीवात्मा है।

शरीर के कार्य शरीर के लिए नहीं, किसी अन्य के लिए हैं जो शरीर में स्थित है।

यह इस कारण कि मृत्यु के उपरान्त शरीर तो रहता है, परन्तु उसमें वे कर्म नहीं रहते जो मृत्यु के पहले होते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर में से कुछ निकल गया है। वह जीवात्मा है।

आगे कहा है—

अधिष्ठानाच्चेति॥ (सां० द० १-१४२)

अर्थात्—इस (शरीर) पर कोई शासन करता है।

व्यक्ति प्रातःकाल घूमने निकलता है। तो वह घूमने किधर जाए? यह शरीर को आज्ञा देनेवाला शरीर से पृथक् है। मात्र शरीर कहीं जाने-आने की दिशा निश्चय नहीं कर सकता है। कुछ पदार्थ देखने में आते हैं जो गति

अर्थात् कर्म करते तो दिखाई देते हैं, परन्तु उनके कर्म, आदि से अन्त तक एक ही दिशा में होते रहते हैं। उनकी दिशा निश्चय करनेवाला पदार्थ के भीतर नहीं है।

उदाहरण के रूप में सूर्य की किरणें सूर्य से चलकर पृथिवी पर आती हैं। वे आती ही रहती हैं। आने से नहीं रुकतीं, अथवा गति की दिशा बदलती नहीं। इससे पदार्थ को नियंत्रण में करनेवाला शरीर में होने पर भी शरीर से पृथक् है।

और भी कहा है—

भोक्तृभावात्॥ (सां० द० १-१४३)

अर्थात्—भोगने की सामर्थ्य इसमें है।

भूख लगने पर खाता है। टट्टी-पेशाब आने पर इनका विसर्जन करता है इत्यादि। शरीर से कार्य करानेवाला शरीर में ही है, शरीर के बाहर नहीं।

आजकल वैज्ञानिक यह दावा करने लगे हैं कि वे जीन (Gene) के उचित संयोग से जीवन निर्माण कर देंगे। हमारा कहना है कि इसका अभिप्राय यह है कि वैज्ञानिक शरीर में जीवन निर्माण कर देगा, अर्थात् वह ऐसा शरीर निर्माण कर देगा जिसमें जीवात्मा आकर रहने लगेगा। इसमें आत्मा नहीं आया, वह कैसे सिद्ध करेगा? वह निर्माता बन जाएगा। परन्तु निर्माण करने के लिए पदार्थ तो उसको भी प्रस्तुत करने होंगे।

भगवद्गीता में कहा है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

(भ० गी० १५-८)

इसका अभिप्राय है कि शरीर निर्माण होने पर जीवात्मा उसमें ऐसे चला जाता है जैसे वायु के साथ सुगन्धि किसी कमरे में चली जाती है।

इसमें मनुष्य निर्माता है। परन्तु जिन पदार्थों से निर्माण किया है वह तो उसने नहीं बनाए।

शरीर के तत्त्व उसने प्रकृति से लिये। जब शरीर अर्थात् जीवात्मा के रहने योग्य स्थान बन जाता है तो जीवात्मा आकर उसमें बैठ जाता है। एक वैज्ञानिक केवल शरीर का निर्माता ही होगा।

वेद में तो यह माना है कि जब प्रकृति शरीर बना देती है तो जीवात्मा वर्षा की बौछार की भाँति उसमें आकर रहने लगता है (ऋ० १-१६४-८)। यह अभी हम नहीं जानते कि ऐसे किसी शरीर को बनाने में कोई वैज्ञानिक सफल हुआ है अथवा नहीं। यदि सफल भी होगा तब भी जीन (Gene) से तो शरीर ही बनेगा। वैज्ञानिक की महिमा यह होगी कि उसने पुरुष-स्त्री के रज-वीर्य की सहायता के बिना रज-वीर्य का निर्माण किया है। इसमें जीवात्मा की सिद्धि अथवा असिद्धि की बात नहीं है।

यह तो माना जाता है कि प्रकृति ने, सृष्टि के आदि में प्राणी के शरीर बिना पुरुष-स्त्री के संयोग से बनाए थे। प्रकृति का वह कार्य वैज्ञानिक अपनी टेस्ट ट्यूब में करने का यत्न कर रहा है।

इस विषय पर विवेचना अधिक योग्यता से हो सकेगी जब किसी प्रयोगशाला में कोई जीवधारी उक्त सांख्य प्रमाणों के गुणों वाला बन जाएगा।

वैज्ञानिक की यह एक बहुत बड़ी सफलता होने पर भी वह शरीर का निर्माता ही माना जाएगा। जीवात्मा तो पृथक् है। जीन (Gene) से जीवन के सिद्धांत पर अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी कुछ बना नहीं।

वैसे यह वैदिक सिद्धांत है कि प्रकृति में विशेष परिस्थिति में शरीर-निर्माण की सामर्थ्य है। जब शरीर जीवात्मा के रहने योग्य बन जाता है तब जीवात्मा वर्षा की भाँति अन्तरिक्ष से आकर शरीर में बैठ जाता है। इसका कथन हम (ऋ० १-१६४-८ में) पहले कर चुके हैं। वैज्ञानिकों की होड़ प्रकृति से लगी हुई है।

साथ ही सांख्य में यह भी कहा है—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्॥ (सां० द० १-१४९)

अर्थात्—जन्मादि की व्यवस्था से जीवात्माओं के बहुत होने का (ज्ञान होता है।)

अणु

वेद की भाषा में एक शब्द है अणु। इसके विषय में कुछ हम पहले कह आए हैं। प्रकृति के परमाणु से बड़े कण को अणु कहते हैं। यह भी हमने पहले बताया है कि जब परमाणु की असाम्यावस्था होती है तो परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण से गति, और फिर संयोग उत्पन्न होते हैं। तीन प्रकार के संयोगों का वर्णन किया गया है। चित्र खींचकर हमने बताया है कि ये तीन प्रकार के संयोग कैसे बनते हैं। चित्र से यह भी प्रकट होता है कि ऐसे संयोग बनने के लिए कम-से-कम पाँच परमाणु परस्पर मिलने चाहिएँ। पाँच परमाणुओं से विशेष रूप में वरुणों और अर्यमा में तो संयोग होने की बात भी बताई है। इन संयोगों के निबन्धन को आपः कहते हैं।

पाँच से कम परमाणु के द्वयणुक और त्र्यणुक भी होने की बात कह सकते हैं। इनमें से महत् में एक प्रकार का संयोग मन और बुद्धि भी है। मन के विषय में सांख्य में कहा है—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः॥ (सां० द० १-७१)

अर्थात्—महत् का प्रथम कार्य मन है।

बुद्धि के विषय में वेद में कहा है—

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥

(अथर्व० १-३३-२)

अर्थात्—वरुण से झूठ-सत्य का निर्णय करने की शक्ति आती है। झूठ-सत्य का निर्णय बुद्धि करती है।

अतः मन और बुद्धि भी परमाणुओं के संयोग ही हैं, अर्थात् मन एवं बुद्धि भी परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। ये भी अणु कहाते हैं और जन्तुओं को मिलते हैं।

हमारा यह सब बताने का अभिप्राय यह है कि परमाणुओं से कई प्रकार

के अणु बनते हैं।

मित्र, वरुण और अर्यमा के निर्माण की बात हम पहले बता आए हैं। एक से अधिक परमाणुओं के संयोग वे भी हैं।

वेद में तो आपः के संयोगों को भी अणु कहा है जिनका उल्लेख हमने पूर्व में परिमण्डल के नाम से किया है। वे भी एक से अधिक परमाणुओं के संयोग होने से अणु कहाते हैं। परिमण्डलों के संयोग भी बनते हैं। उनको अणु नहीं कहते। परिमण्डलों के संयोग का वेद में विशेष नाम है। वे मरुत् कहाते हैं।

इन मरुतों के विषय में हम अगले अध्याय में व्याख्या से कहेंगे। यहाँ तो हम केवल यह कह रहे हैं कि परिमण्डल नाम वेद में नहीं है परन्तु उनके बनने की प्रक्रिया तो ऋग्वेद (१-३२) में वर्णन की है।

वर्तमान विज्ञान में परिमण्डल (ऐटम) का विस्तार से वर्णन है। साथ ही हमने यह बताया है कि परिमण्डल का एक कण अर्थात् अणु अकेला-अकेला नहीं रहता। ये दो अथवा दो से अधिक इकट्ठे रहते हैं। इसका कारण भी हम पूर्व में बता चुके हैं। आपः की भाँति वे भी आवेशयुक्त होते हैं और आपः पृथक्-पृथक् कार्य करते नहीं देखे जाते। इस कारण परिमण्डलों का वेद-भाषा में पृथक् उल्लेख नहीं। इनमें विशेषता होने पर भी इन्हें परिमण्डलों के संयोगों में ही माना है। परिमण्डलों के संयोगों को वेदभाषा में मरुत् कहते हैं।

मरुत् का वेद में पृथक् और विस्तृत वर्णन है। यह इस कारण कि ये आवेश-रहित होते हैं और जगत् के सब पदार्थों में परमाणु मरुतों के रूप में देखे जाते हैं। वस्तु की संज्ञा ही तब बनती है जब परमाणु उस वस्तु के मरुतों के रूप में बन जाते हैं। इनको वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में मोलिक्यूल कहते हैं।

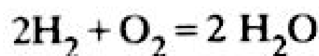
ये परिमण्डलों के संयोग होते हैं।

वैसे हमने यह बताया है कि परिमण्डल भी जब दो अथवा अधिक मिलते हैं तब ही वे एक पदार्थ के रूप में प्राप्त होते हैं। तब वे भी मरुत् ही कहे जाते हैं। हमने हाइड्रोजन इत्यादि का उदाहरण दिया है। हाइड्रोजन इत्यादि के अणु जब एक समूह में देखे जाते हैं तो उनको रासायनिक तत्त्व

कहते हैं। हमने उनके सांकेतिक नामों को भी, H_2, O_2 इत्यादि बताया है। ये भी विज्ञान में मरुत् ही कहाते हैं।

जब परिमण्डल एक से अधिक, चाहे वे एक ही प्रकार के हों, चाहे भिन्न-भिन्न प्रकार के हों, संयुक्त हो जाएँ तो वे मरुत् ही कहाते हैं। उदाहरण के रूप में—

हाइड्रोजन के परिमण्डल जब ऑक्सीजन परिमण्डल में संयुक्त होकर जल के अणु बनाते हैं तो वे जल के मरुत् कहे जाते हैं। इनका विज्ञान में समीकरण (इक्वेशन) इस प्रकार लिखा जाता है—



$2H_2 + O_2 = 2\,H_2O$

H_2O जल मरुत् (मोलिक्यूल) का सांकेतिक नाम है।

इसी प्रकार क्लोरीन के परिमण्डल जब हाइड्रोजन के परिमण्डलों से संयुक्त होते हैं तो वे हाइड्रोजन तेजाब बनाते हैं। इनका समीकरण इस प्रकार बनता है—



$H_2 + Cl_2 = 2HCl$

HCl का वास्तविक स्वरूप है—H" + Cl

वेद के भाष्यकार, जो रासायनिक पदार्थ-विद्या से अनभिज्ञ हैं, वे मरुतों का अर्थ मनुष्य अथवा अन्न पर जीने वाले पदार्थ मानते हैं। हम उन भाष्यकारों को वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ मानते हैं। मरुत् परिमण्डलों के संयोग होते हैं। जैसा हमने ऊपर दर्शाया है, जल के मरुत् अथवा हाइड्रोक्लोरिक मरुत् मोलिक्यूल अर्थात् परिमण्डलों के संयोग को कहते हैं। वे आवेश-रहित होते हैं। परिमण्डलों के आवेश परस्पर भीतर ही निस्तेज हो रहे होते हैं।

मरुत्

वेद में मरुतों को एक प्रकार का पदार्थ माना है। इसके विषय में ऋग्वेद में कई सूक्त हैं। यजुर्वेद में भी इनका वर्णन है। वे पंचमहाभूतों के निर्माण में भाग लेते हैं। पंच महाभूतों के विषय में हम आगे चलकर बताएँगे। यहाँ मरुतों के एक विशेष गुण का वर्णन वेद में से कर देना चाहते हैं। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्॥

(ऋ० १-६-४)

अर्थात्—यह निश्चय ही है कि प्रकृति (स्वधा) पुनः गर्भ की स्थिति में हो जाती है। इस अवस्था में यह यज्ञ करने अर्थात् सृष्टि-रचना-कार्य के योग्य हो जाती है।

वेद का यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है। यज् के अर्थ हैं संयोग होना। जब परमाणुओं का संयोग होने लगता है तो 'यज्ञ हो रहा' कहा जाता है। परमाणुओं के संयोग को ही रचना-कार्य कहते हैं। अतः यज्ञ को सृष्टि-रचना करना कहते हैं।

ऋग्वेद के आरम्भ में ही अनादि अग्नि से यज्ञ होने की बात कही है। वहाँ कहा है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(१-१-१)

अर्थात्—आरम्भ में अग्नि उपस्थित थी और इसने यज्ञ-कार्य आरम्भ किया।

प्रकृति पुनः गर्भ की स्थिति में हो गई। ऐसा वेद-मंत्र (ऋ० १-६-४) में कहा है। इसका अभिप्राय है कि प्रकृति की शक्ति, जो परमात्मा की अग्नि के परमाणु पर आरूढ़ होते समय परमाणु के भीतर थी, बहिर्मुखी हो गई थी। वह मरुत् बनने के समय पुनः मरुत् के भीतर ही संतुलित हो गई। मरुत् में

शक्ति बाहर प्रकट नहीं होती। प्रकृति जब आदिरूप (साम्यावस्था में परमाणु) थी, तब भी इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति परमाणु के भीतर संतुलित हो परमाणु की साम्यावस्था बनाती थी। प्रकृति की उस स्थिति को स्वधा कहते हैं। जब तीन शक्तियाँ सत्त्व, रजस् और तमस् परमाणु के भीतर संतुलित थीं, प्रकृति की शक्ति उस समय भी भीतर सीमित थी। यह प्रकृति की प्रथम गर्भावस्था थी। अब परिमण्डलों का शेष आवेश भी, मरुत् में आने पर भीतर ही संतुलित हो गया। यह प्रकृति की दूसरी गर्भावस्था कही जाती है। सांकेतिक रूप में अब यह इस प्रकार प्रकट की जा सकती है—

दो परिमण्डल, हाइड्रोजन के एक परिमण्डल ऑक्सीजन से संयुक्त होकर जल का एक मरुत् (मोलिक्यूल) बनता है। इस क्रिया का समीकरण इस प्रकार लिखा जा सकता है—



$$2H_2 + O'_2 = 2H_2O(H^1H^1H^1H^1 + O^1O^1 =$$

जल में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन परिमण्डलों के आवेश परस्पर निःशेष कर रहे होते हैं।

इसी प्रकार नमक है—सोडियम (Nq) और क्लोरीन (Cl) का संयोग। नमक के एक मोलिक्यूल में दोनों के आवेश (चार्ज) परस्पर निःशेष कर रहे होते हैं। इस क्रिया का समीकरण इस प्रकार लिखा जा सकता है—



Nq + Cl = NqCl.

Nq Cl नमक के एक मोलिक्यूल (मरुत् अणु) का सांकेतिक नाम है। शक्तियाँ परस्पर निःशेष कर रही होती हैं।

मरुतों के एक अन्य गुण का कथन 'जैमिनी ब्राह्मण' में कहा है। वहाँ कहा है—

ततो मरुतो सृजत ईशान मुखान्॥ (जै० ब्रा० ३-३८१)

अर्थात्—मरुत् बनते ही यह ईशान कोण को देखने लगता है।

यह गुण एक चुम्बक में होता है। ईशान कोण है उत्तर-पूर्वी कोना।

पृथिवी का ध्रुव ध्रुव-नक्षत्र से माना जाता है। परन्तु पृथिवी के चुम्बक का उत्तरी ध्रुव उत्तर से कुछ पूर्व की ओर झुका होता है। इस कारण सब चुम्बक जब किसी डोरे से लटका दिए जाएँ तो वे उत्तरी और पूर्वी कोण की ओर घूम जाते हैं।

यह वर्तमान वैज्ञानिक भी जानते हैं कि चुम्बक किसी डोरे में लटकाया जाए तो वह पृथिवी के चुम्बक से आकर्षित होकर ईशानकोण और दक्षिण-पश्चिमी कोण की ओर हो जाता है।

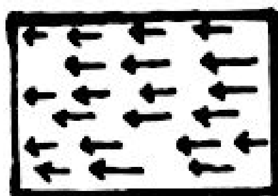
इसका अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक मरुत् का अणु एक छोटा-सा चुम्बक होता है। ऐसा ही वर्तमान विज्ञान भी मानता है।

यह देखा गया है कि पृथिवी पर कुछ पदार्थ तो चुम्बकीय शक्ति रखते हैं अथवा सुगमता से चुम्बकीय शक्ति स्वीकार कर सकते हैं। साथ ही कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो चुम्बकीय शक्ति को ग्रहण नहीं कर सकते। परन्तु मरुत् अणु सदा एक चुम्बक होता है। यह वर्तमान विज्ञान भी मानता है—

Every molecule is a magnet.

यह ज्ञात है। उन पदार्थों को जिनको 'फैरो मैगनेटिक' कहते हैं, उनमें ही चुम्वकीय शक्ति आ सकती है। अन्य पदार्थ जिनको 'पैरा-मैगनेटिक' कहते हैं, वे न तो चुम्बकीय शक्ति रखते हैं और न ही चुम्बकीय शक्ति ग्रहण कर सकते हैं।

वर्तमान विज्ञान में भी यह माना जाता है। परन्तु इसका कारण यह बताया है कि इन दोनों प्रकार के पदार्थों में मरुत्-अणु (मोलिक्यूल्ज़) होते तो हैं चुम्बकीय ही, परन्तु ये एक दलीय मरुत्-अणु तो पहले ही एक दिशा में उपस्थित होते हैं, अथवा एक दिशा में सुगमता से किए जा सकते हैं। लोहा एक ऐसा पदार्थ है। इस बात को चित्रवत् इस प्रकार दिखाया जा सकता है, प्रत्येक कोष्ठक में एक रेखा (→)एक मरुत्-अणु माना गया है।



'फैरो मैगनेटिक'



'पैरा-मैगनेटिक'

जैमिनी ब्राह्मण में भी यही कहा है कि प्रत्येक मरुत् का चुम्बक होता है। परन्तु मरुत् बनते हैं परिमण्डलों (ऐटम्स) से। ये परिमण्डल चुम्बक नहीं होते। न ही आपः जिनसे परिमण्डल बनते हैं, चुम्बक होते हैं।

वेदों में मरुतों को देवता माना है, अर्थात् यह वेद का एक विषय है। वेद-मंत्रों के विषय को देवता कहा जाता है। हमने यह बताया है कि वेदों में मरुत् विषय के कई सूक्त हैं।

जगत् के सब पदार्थ पाँच श्रेणियों में माने गए हैं। ये 'पंच महाभूत' कहाते हैं। वर्तमान विज्ञान में इनका पर्याय नहीं है। पदार्थ तो संसार में हैं परन्तु उनको इन श्रेणियों में नहीं बाँटा।

इस विषय में हम पृथक् अध्याय में लिखेंगे। यहाँ इतना बनाने से ही अभिप्राय है कि वेद की परिभाषा में जगत् के सब पदार्थों को पंच महाभूतों की श्रेणियों में बाँटा जाता है और वे सब मरुतों के संयोग ही होते हैं।

दशम अध्याय

सृष्टि रचना

हमने जो पदार्थों की श्रेणियाँ इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में लिखी थीं, उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कर दिया है। वे पदार्थ हैं—१. परमात्मा, २. जीवात्मा, ३. प्रकृति, ४. महत्, ५. आपः, ६. परिमण्डल, ७. मरुत्, ८. पंच महाभूत।

अब हम इनके बनने के विषय में, जैसा वेदों में कहा है, कथन करेंगे।

जगत्, वह सब-कुछ जो हमारे चारों ओर चलायमान है, उसे कहते हैं। इसे अंग्रेजी में 'क्रियेशन' = निर्मित सृष्टि कहते हैं।

हमने बताया है कि सृष्टि-निर्माण का कारण तीन अक्षर पदार्थ हैं—परमात्मा, जीवात्मा और मूल प्रकृति। परमात्मा स्वयं रचित जगत् का अंग नहीं बनता, परन्तु वह सब-कुछ बनानेवाला है। जगत् के पदार्थ प्रकृति से बने हैं।

सब पदार्थ दो श्रेणियों में बाँटे जाते हैं—शरीरी और अशरीरी।

शरीरी (animate) पदार्थों के लक्षण न्यायदर्शन के प्रमाण (न्या०द० १-१-१०) से इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में कहे हैं।

जिन पदार्थों में गुण (इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न और चेतना) नहीं होते, उनको अशरीरी (in-animate) पदार्थ कहते हैं।

यह हमने बताया है कि प्रकृति स्वधा के रूप में उपस्थित थी। यह कहाँ-कहाँ तक उपस्थित थी, इस विषय में मनुष्य को ज्ञात नहीं है।

इस कारण ब्रह्मसूत्र में इसके विषय में यह कहा है—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥

सा च प्रशासनात्॥ (ब्र० सू० १-३-१०, ११)

अर्थात्—अक्षर पदार्थ (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) जहाँ तक विश्व में स्थान है वहाँ तक धारण करता है (भरे हुए हैं)।

और वह (परमात्मा) इन पर शासन करता है।

यह स्थान कहाँ-कहाँ तक है कोई नहीं जानता। साथ ही बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (बृ० उ० ५-१-१)

अर्थात्—यह (व्योम) पूर्ण (सर्वत्र) है। इसमें से यह (निर्माण किया) भी पूर्ण (सर्वत्र) है। पूर्ण से पूर्ण निकल जाने पर भी पूर्ण ही बच जाता है।

इस वाक्य से यह प्रकट होता है कि इस सब-कुछ की सीमा नहीं। यह असीम है और अक्षर उसमें भरे पड़े हैं।

इनमें परमात्मा तो एक ही है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सबका निर्माण करनेवाला है। वह विभु है। विभु का अर्थ है सर्वत्र व्यापक। एक ही सब स्थान पर है।

जीवात्माएँ अनेक हैं। इनकी संख्या का ज्ञान नहीं। प्रकृति भी परमाणु-रूप है। है तो यह भी सर्वत्र, परन्तु जीवात्मा और प्रकृति के परमाणु असंख्य होने से पृथक्-पृथक् हैं। ये सब प्रलय-काल में समीप-समीप होने से भी, इन में निर्माण अथवा विघटन नहीं हो रहा होता।

परमात्मा की इस इच्छा से उसकी शक्ति, जो हमने वेद (ऋ० १-१-१) में विद्यमान कही है और जिसको (ऋ० १०-१२९-२ में) 'आनीत अवातन्' कहा है, वह जागृत हो उठती है। परमात्मा की यह इच्छा क्यों होती है, इस विषय में अनेक स्थान पर कहा है कि यह ऋतों का पालन करते हुए होता है। इस विषय में भी वेद में कहा है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। (ऋ० १०-१९०-१)

अर्थात् ऋतों के और सत्य के नियमानुसार स्थित होने से····यह जगत् बना है और ऋतों के अनुसार ही इस अंतरिक्ष में विस्तार पाता है और फिर रात्रि अर्थात् प्रलय होती है। यह दिन और रात, रचना और प्रलय, एक-दूसरे के उपरान्त होते रहते हैं।

अतः नियत समय पर अचलायमान शक्ति जागृत होती है और फिर घोर-शोर मचाती हुई अन्तरिक्ष में फैल जाती है (ऋ० १-१६३-१)। यह गति में आई शक्ति प्राण कहाती है। यह एक विशाल क्षेत्र में परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो जाती है।

इस समय शक्ति का नाम 'वैश्वानर अग्नि' होता है। इस अग्नि के विषय में हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

अग्नि के परमाणुओं पर लगाम लगने से (ऋ० १-१६३-२) परमाणुओं के भीतर त्रिगुणात्मक शक्ति आती है जिसे 'इन्द्र' का नाम दिया गया है। परमाणु बहिर्मुख हो जाता है। इन्द्र की तीनों शक्तियाँ सत्त्व, रजस्, तमस् बाहर को देखने लगती हैं और परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण होने से गति उत्पन्न होने लगती है। यह गति वायु अथवा मातरिश्वा कहाती है। इससे परमाणुओं के निबन्धन बनने लगते हैं। निबन्धन परमाणुओं के संयोग होते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं और आपः कहाते हैं।

ये आपः प्रकृति से ही बनते हैं। इस विषय में भी ऋग्वेद में कहा है—

प्र सु ज्येष्ठं निचिराभ्यां बृहन्नमो
हव्यं मतिं भरता मृळयद्भ्यां स्वादिष्ठं मृळयद्भ्याम्।
ता सम्राजा घृतासुती यज्ञेयज्ञ उपस्तुता।
अथैनोः क्षत्रं न कुतश्चनाधृषे देवत्वं नू चिदाधृषे॥

(ऋ० १-१३६-१)

इस मंत्र में कहा है कि प्रकृति पर जब परमात्मा की शक्ति सवार होती है तो प्रकृति बहुत प्रसन्नता अनुभव करती है। यह स्वेच्छा से उस तेज के अधीन होती जाती है और रचना-कार्य आरम्भ हो जाता है। यज्ञ रचना-यज्ञ में प्रकृति के परमाणु हव्य, घी की भाँति हवि बन जाते हैं। और परमाणु में परिवर्तन सुषुप्ति-अवस्था से जागृत-अवस्था में होते जाते हैं।

इसी सूक्त का अगला मंत्र है—

अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था
ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः।
द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वय उपस्तुत्यं बृहद्वयः॥

(ऋ० १-१३६-२)

कहा है कि—ऋतों (अनादि नियमों) का पालन करते हुए इसके भीतर शक्ति की रश्मियाँ बाहर को देखने लगती हैं। यह प्रकृति इन रश्मियों से ऐश्वर्यवती (चमकती हुई) दिखाई देती है। इन रश्मियों से परमाणु चमकते हैं

और तेज दिखाई देने लगता है (प्रकाश हो जाता है)।

इसी सूक्त में तीसरा मंत्र इस प्रकार है—

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं
स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे।
ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती।
मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः॥

(ऋ० १-१३६-३)

अर्थात्—इससे दो अति शक्तिशाली तत्त्व—मित्र और वरुण—नित्य दिनानुदिन प्रकृति के परमाणुओं से बनते चले जाते हैं। मूल प्रकृति के सजग होने पर ये दो शक्तिशाली तत्त्व बनते हैं और ये अपने अधीन एक तीसरे तत्त्व अर्यमा को रखते हैं।

तीसरा तत्त्व आवेश-रहित होता है। अर्यमा का अभिप्राय ही है रात का देवता, अर्थात् शक्ति-रहित देवता। शक्तिशाली तत्त्व इस आवेश-रहित को आकर्षित करने लगते हैं।

यह उस समय की स्थिति का वर्णन है जब हिरण्यगर्भ (नेबुला) बनने लगता है। हिरण्यगर्भ की चमक इसी मित्र और वरुण की रश्मियाँ उत्पन्न करती हैं। कहा है मित्र और वरुण चमकने लगते हैं।

इस सब समय प्रकृति के परमाणु पर अनादि शक्ति लगाम की भाँति आरूढ़ रहती है। यह वैश्वानर अग्नि कहाती है। असाम्यावस्था में परमाणु की शक्ति की रश्मियाँ ही यह प्रकाश उत्पन्न करती हैं जिनसे हिरण्यगर्भ चमकने लगता है।

सृष्टि-रचना का वृत्तान्त (जारी)

हिरण्यगर्भ में एक सौ एक देव वर्ष तक प्रकृति परमात्मा के तेज (प्राण) से पकती रही। इस पकने में द्युतिमान (सूर्यादि) और अद्युतिमान (पृथिवी इत्यादि) पदार्थ बनते रहे।

हमने बताया है कि ये सब पदार्थ आपः से बने हैं। यह भी हम बता चुके हैं कि आपः से परिमण्डल बनते हैं। हमने यह भी बताया है कि परिमण्डल अपने पर शेष आवेश के कारण संयुक्त होकर अणु बनाते हैं। अणु में एक ही प्रकार के परिमण्डल हो सकते हैं अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के भी।

परिमण्डलों के संयोगों में कुछ पर शेष आवेश नहीं होता। इस कारण ये संयोग प्रकृति की दूसरी गर्भावस्था कही जाती है। यह संयोग 'मरुत्' कहाते हैं।

मरुत् को वर्तमान विज्ञान में मोलिक्यूल कहते हैं। मरुत् को कुछ एक भाष्यकारों ने मनुष्य इत्यादि (जीव-जन्तु) कहा है। वे मरुत् के अर्थ मरणशील मानकर जीव-जन्तुओं का अर्थ लेते हैं। परन्तु वेद में मरुत् प्रकृति का ही एक परिणाम माना गया है। मरणशील तो वैदिक भाषा में उन सब पदार्थों को कहते हैं जो बनते और टूटते हैं। फिर भी मरुत् का स्पष्ट अर्थ परिमण्डल के संयोग से लिया गया है।

हम ऊपर बता आए हैं कि जैमिनीय ब्राह्मण में मरुतों को चुम्बकीय शक्ति वाला माना है।

मरुत् परिमण्डलों का समूह होने से आपः का ही संयोग माना जाता है। वेद में इनके विषय में पर्याप्त विस्तार से वर्णन किया है।

परिमण्डलों के बनने के विषय में ही वेद का एक सूक्त है जिसमें इन्द्र, मरुत् इत्यादि देवताओं के विषय पर मंत्र हैं। इन मंत्रों के अध्ययन से इन्द्र और मरुत् का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाएगा। यह ऋग्वेद का १-६ सूक्त है।

इसका देवता इन्द्र है। प्रथम मंत्र इस प्रकार है—

युञ्जन्तिं ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥

(ऋ० १-६-१)

अर्थात्—चारों ओर से असाम्यावस्था में परमाणु भर रहे हैं। वे अन्तरिक्ष में प्रकाशित होकर प्रकाश कर रहे हैं।

यह उस अवस्था का वर्णन है जब परमात्मा की शक्ति परमाणुओं पर लगाम बनकर आरूढ़ हो गई थी। इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति परमाणु से बाहर हो रही थी। परमाणु आकर्षण-विकर्षण से गतिशील हो रहे थे।

सूक्त के दूसरे मंत्र का देवता भी इन्द्र है। मंत्र इस प्रकार है—

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥

(ऋ० १-६-२)

अर्थात्—इसके रथ में दृढ़ता से जुते हुए दो घोड़े हैं। ये (घोड़े) कामना करते हुए दोनों पक्षों पर (जुते) हैं।

रजस् और सत्त्व शक्तियाँ घोड़े कहे हैं, क्योंकि ये परमाणुरूपी रथ को हाँक रहे हैं। ये रथ, अर्थात् परमाणु के साथ दृढ़ता से जुड़े हुए हैं।

सूक्त के तीसरे मंत्र का देवता भी इन्द्र है—

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्य्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥

(ऋ० १-६-३)

अर्थ है—रश्मियों के द्वारा मर्या उत्पन्न हुए। सक्रियशीली से क्रियावान् तथा अरूपवान् से रूपवान् हो जाते हैं।

ये क्रियावान् तथा रूपवान् मरुत् हैं। इनको मर्या कहा है। मर्या का अर्थ मरणशील से है। ये मर्या क्या थे, यह अगले मंत्र में बताया है। परमाणुओं के आकर्षण-विकर्षण से अन्तरिक्ष में पहले आपः बनते हैं और फिर परिमण्डल। इनके बनने की प्रक्रिया हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। आपः और परिमण्डल स्थायी होते हैं और आवेशयुक्त होते हैं। परन्तु जो ये मर्या बने उनके विषय में आगे कहेंगे।

सूक्त के अगले मंत्र का देवता मरुत् है। मंत्र है—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्॥

(ऋ० १-६-४)

अर्थात्—अब यह निश्चय ही है कि प्रकृति को पुनः गर्भ की स्थिति

प्राप्त होती है।

यह यज्ञ करने (सृष्टि-रचना) की योग्यता को धारण कर लेती है।

अभिप्राय यह है कि उक्त मंत्र में जो मर्या बनी थी वह पुनः गर्भ की स्थिति धारण कर लेती है। इसका अभिप्राय हम यह समझते हैं कि प्रकृति साम्यावस्था में अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति परमाणु के भीतर छुपाए हुए थी। अब मर्या का वह आवेश जो आपः तथा परिमण्डल में बाहर को था, वह मर्या के भीतर पुनः वैसे ही छुप जाता है जैसे स्वधा की अवस्था में था।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक, मर्या मरुत् ही हैं, वे परमाणुओं के संयोग हैं; दूसरी बात यह कि मरुतों में आवेश मरुत् के भीतर ही संतुलित हो जाता है। हमने इसका सांकेतिक चित्र पहले दिखाया है। एक अन्य उदाहरण ले सकते हैं। मीठा सोडा और नमक के तेजाब में हाइड्रोजन और क्लोरीन होती है।

इसका सांकेतिक चित्र इस प्रकार होगा—

हाइड्रोजन H^1 है और क्लोरीन है Cl

हाइड्रोक्लोरिक एसिड = HCl

ये मरुत् ही मोलिक्यूल हैं।

इसी सूत्र का अगला मंत्र है—

बीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्त्रिया अनु॥

(ऋ० १-६-५)

इसका देवता 'मरुत् इन्द्रश्च' अर्थात् मरुत् और इन्द्र हैं।

अर्थ है—और इन्द्र गुहा में बैठा हुआ, इसे फोड़कर बाहर आ अग्नि से बाहर हो सकता है। उसमें से बहते हुए अणु बाहर निकलने लगते हैं।

यह बताया है कि मरुत् जिसकी पूर्ण शक्ति उसके भीतर छुपी होती है, उसको इन्द्र फोड़कर बाहर अणुओं को बहाने लगता है।

यह रसायनशास्त्री जानते हैं कि जब मोलिक्यूल टूटता है तो परमाणु बाहर बहने लगते हैं, अर्थात् मोलिक्यूल्स से निकल आते हैं।

इसी सूक्त का एक अन्य मंत्र है—

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम्॥

(ऋ० १-६-६)

इस मंत्र का देवता मरुत् है।

अर्थ है—ये देव (मरुत्) स्तुति योग्य, जाने हुए पदार्थ अच्छी बुद्धिवाले महिमावान् श्रुति में कहे गए हैं।

इस प्रकार मरुतों का इन्द्र से सम्बन्ध बताया गया है। यह कहा है कि इन्द्र शक्ति से ही आपः और परिमण्डलों की सन्तान मरुत् है।

मरुत् के विषय में और भी कहा है।

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥

(ऋ० १-६-७)

अर्थात्—(यह मरुत्) भयरहित हो इन्द्र के समान शक्तिशाली हुआ इन्द्र ही दिखाई देता है। प्रसन्नता और बल से दोनों समान हैं।

इस प्रकार यह प्रकट करने का यत्न किया गया है कि मरुत् में इन्द्र की ही शक्ति है। परन्तु ऋग्वेद १-६-७ में बताया है कि मरुत् की शक्ति मरुत् के भीतर छुपी होती है। शक्ति गर्भस्थ हो जाती है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त ८५, ८६, ८७ में भी मरुतों के विषय में ही कहा गया है। उनमें से कुछ मंत्र यहाँ दिए जाते हैं।

सूक्त १-८५ में कहा है—

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य सूनवःसुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः॥

(ऋ० १-८५-१)

मंत्रार्थ—जो (मरुत्) मार्ग में शोभा पाती हुई स्त्रियों की भाँति शोभा पाते हैं, रुद्र (इन्द्र) के वेगगामी पुत्र (मरुत्) शुभ कर्म (सृष्टि-रचना) करते हैं।

वर्तमान विज्ञान में वायवी अवस्था में पदार्थ के मरुत् अणु बिना बाधा के उड़ते फिरते माने जाते हैं। वायवी पदार्थ यदि किसी बर्तन में बन्द न रखा जाए तो यह अबाध जहाँ तक इसे स्थान मिलता है, फैल जाता है।

मंत्र में आगे कहा है—अन्तरिक्ष और पृथिवी पर मरुत ही हैं जो चक्राकार गति में बढ़ते हुए प्रसन्न होते हैं।

इस मंत्र से यह भी पता चलता है कि मरुत् अन्तरिक्ष में ही बनते हैं। सूर्य से आपः पृथिवी की ओर धाराओं में आते-आते मार्ग में ही हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्बन के परिमण्डल बनाने लगते हैं। वैदिक भाषा में ये सब

अणु हैं।

इसी सूक्त का अगला मंत्र है—

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः॥

(ऋ० १-८५-२)

अर्थात्—वे (मरुत्) महिमायुक्त होने पर विस्तार पा जाते हैं। अन्तरिक्ष में रुद्र (इन्द्र) के पुत्र अपने स्थान पर स्थिर रहते हुए क्रियाशील हो गए। प्रशंसा-योग्य की प्रशंसा करते हुए इन्द्रियों में श्रेष्ठ शक्ति उत्पन्न करते हुए ये जिसकी माता (जन्म-स्थान) आदित्य है, धारण करते हैं।

इस मंत्र में कहा है कि मरुत तो सूर्य में बनने लगे थे। वहाँ से ये रूप बदलते हुए पृथिवी पर आते हैं। वहाँ ये वनस्पतियों में समा जाते हैं और मनुष्यों से खाए जाने पर इन्द्रियों का सामर्थ्य-निर्माण करते हैं।

इस प्रकार हमने सृष्टि-रचना-यज्ञ की यात्रा का साम्यावस्था के परमाणु से चलकर मरुतों तक वर्णन कर दिया है। सृष्टि के सब पदार्थ मरुतों के झुण्ड ही होते हैं। ये झुण्ड मरुत-गण कहे जाते हैं, अर्थात् पृथिवी पर प्राप्त सब पदार्थ मरुतों के झुण्ड ही हैं।

यह बताया जा चुका है कि मरुत् में ऊर्जा गर्भस्थ होती है। यह वैश्वानर अग्नि के बल से इस अवस्था में रहती है। हमने बताया है कि जब तक सृष्टि बनी रहती है वैश्वानर अग्नि परमाणु पर सवार रहती है।

अणु हैं।

इसी सूक्त का अगला मंत्र है—

त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः।
अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातरः॥

(ऋ० १-८५-२)

अर्थात्—वे (मरुत्) महिमायुक्त होने पर विस्तार पा जाते हैं। अन्तरिक्ष में रुद्र (इन्द्र) के पुत्र अपने स्थान पर स्थिर रहते हुए क्रियाशील हो गए। प्रशंसा-योग्य की प्रशंसा करते हुए इन्द्रियों में श्रेष्ठ शक्ति उत्पन्न करते हुए ये जिसकी माता (जन्म-स्थान) आदित्य है, धारण करते हैं।

इस मंत्र में कहा है कि मरुत तो सूर्य में बनने लगे थे। वहाँ से ये रूप बदलते हुए पृथिवी पर आते हैं। वहाँ ये वनस्पतियों में समा जाते हैं और मनुष्यों से खाए जाने पर इन्द्रियों का सामर्थ्य-निर्माण करते हैं।

इस प्रकार हमने सृष्टि-रचना-यज्ञ की यात्रा का साम्यावस्था के परमाणु से चलकर मरुतों तक वर्णन कर दिया है। सृष्टि के सब पदार्थ मरुतों के झुण्ड ही होते हैं। ये झुण्ड मरुत-गण कहे जाते हैं, अर्थात् पृथिवी पर प्राप्त सब पदार्थ मरुतों के झुण्ड ही हैं।

यह बताया जा चुका है कि मरुत् में ऊर्जा गर्भस्थ होती है। यह वैश्वानर अग्नि के बल से इस अवस्था में रहती है। हमने बताया है कि जब तक सृष्टि बनी रहती है वैश्वानर अग्नि परमाणु पर सवार रहती है।

वैश्वानर अग्नि

हमने पिछले अध्याय में बताया है कि जब अनादि अग्नि परमाणु पर आरूढ़ हो जाती है और परमाणु उसे स्वीकार कर उसके अधीन गति करता हुआ परमाणुओं के निबन्धन बनाने लगता है तब यह अग्नि वैश्वानर अग्नि कहाती है।

वैश्वानर अग्नि का अभिप्राय है कि विश्व को अर्थात् पूर्ण जगत् को कार्य में लगाए रखनेवाली शक्ति। यह वही अग्नि है जो परमाणु पर लगाम की भाँति आरूढ़ होती है।

इस शक्ति के विषय में ब्रह्मसूत्र में एक विवाद का वर्णन है। उस विवाद में यह संशय उठाया गया है कि क्या यह वही शक्ति है जो लकड़ी जलने के समय प्रकट होती है? इस विषय पर युक्तियाँ-प्रतियुक्तियाँ दी गई हैं। और अन्त में ब्रह्मसूत्र का प्रवक्ता अपनी सम्मति इस प्रकार देता है—

अत एव न देवता भूतं च॥ (ब्र० सू० १-२-२७)

अर्थात्—यह न तो देवता है न ही यह पंचभौतिक अग्नि है। अर्थात् यह आदि-अग्नि ही है।

यह शक्ति हिरण्यगर्भ के भीतर कार्य कर रही होती है, और इसी शक्ति के कारण हिरण्यगर्भ की चमक होती है।

वैश्वानर अग्नि के विषय में ऋग्वेद में एक सूत्र है। इस सूक्त का प्रथम मंत्र है—

नू चित् सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः।
वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति॥

(ऋ० १-५८-१)

अर्थात्—जब यह अग्नि प्रकट होती है तो अन्तरिक्ष में फैल जाती है। यह प्रकृति के परमाणुओं को मार्गों पर ले चलती है और उनका देवताओं के निर्माण में प्रयोग करती है।

इसका अभिप्राय हम (१-१३६-२,३ में) स्पष्ट कर आए हैं। अर्थात् पहले मित्र, वरुण बनते हैं और वे अर्यमा को अपने अधीन कर लेते हैं। ये मित्र, वरुण और अर्यमा ही देवता हैं जिनके बनाने में वैश्वानर अग्नि सफल होती है और उनको रचना-कार्य में प्रवृत्त करती है।

इस सूक्त का अगला मंत्र इस प्रकार है—

आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्वविष्यन्नतसेषु तिष्ठति।
अत्यो न पृष्ठं प्रषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्॥

(ऋ० १-५८-२)

इस मंत्र में कहा है—यह शक्ति (वैश्वानर अग्नि) क्षीण नहीं होती। यह परमाणुओं को संयुक्त करती है अथवा उनको पृथक्-पृथक् करती है। यह उनकी (परमाणुओं को कार्य करते हुए) रक्षा करती है। ऐसा करती हुई अन्तरिक्ष में फैलती जाती है। तब यह जलते हुए पदार्थों पर सवार होती है। ये पदार्थ उत्पन्न हुई गरमी से जलने लगते हैं।

इस मंत्र में सूर्य के विषय में कहा है।

सूक्त का अगला मंत्र है—

क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो रयिषाळमर्त्यः।
रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति॥

(ऋ० १-५८-३)

अर्थात्—परमाणुओं की गति में आपः मानो रथों पर सवार होकर रथों को स्वामियों की भाँति चलाने लगते हैं और छोटे-छोटे (ह्रस्व) कण बड़ों के चारों ओर घूमने लगते हैं।

यह परिमण्डल की बात बताई है। मित्र-आपः वरुण और अर्यमा के चारों ओर रज्जुगति में घूमने लगते हैं।

यह हम पूर्व में बता चुके हैं कि परिमण्डल किस प्रकार बनता है और किस प्रकार वरुण और अर्यमा के चारों ओर मित्र आपः घूमने लगता है।

यह कहा जाता है कि बहुत लम्बे काल तक पकने पर आपः और आपः से बने परिमण्डलों में संयोग-वियोग होता रहता है। इससे बड़े-बड़े पिण्ड बन जाते हैं और छोटे-छोटे पिण्ड बड़े-बड़े पिण्डों के चारों ओर घूमने लगते हैं। ये सूर्यमण्डल में ग्रह बन जाते हैं और सौर-मण्डल के बड़े पिण्ड के चारों

ओर घूमने लगते हैं। यह हिरण्यगर्भ में यज्ञ (रचना-कार्य) होता है।

इस विषय में एक अन्य मंत्र में भी कहा है—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥

(ऋ० १०-१३०-१)

इस मंत्र में कहा है कि हिरण्यगर्भ में ये क्रियाएँ बहुत काल तक होती रहीं (हमारा सौर-मण्डल आकाशगंगा का एक छोटा-सा अंश है)। एक सौ एक देव-वर्ष तक हिरण्यगर्भ में ये पदार्थ पकते रहे।

यहाँ यह बता देना ठीक होगा कि इस मंत्र में एक शब्द है— "देवकर्मेभिरायतः"। कई भाष्यकार इसका अर्थ करते हैं कि एक सौ एक देवता रचना-कर्म में कार्यरत रहे। परन्तु मनु हमारे अर्थ का समर्थन करता है। मनुस्मृति में कहा है—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥ (मनु० १-१२)

श्लोक में कहा है कि—अण्डा (हिरण्यगर्भ) पकता रहा एक सम्वत्सर (ब्रह्मवर्ष) तक। तब अण्डा फटा और सूर्य पृथिवी से पृथक् हो गया।

ब्रह्मदिन एक सौ देव-वर्ष का होता है। ब्रह्माण्ड (ब्रह्म + अण्ड) फटने को वर्तमान विज्ञान में बहुत प्रबल धमाका कहते हैं।

हमने यह ऊपर बताया है कि हिरण्यगर्भ में असाम्यावस्था में परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है। जब अग्नि पदार्थों पर कार्य करती है तो ऊष्मा उत्पन्न होती है। इस ऊष्मा से पहले हिरण्यगर्भ चमकने लगता है, और फिर फट जाता है। इससे चमकते हुए पिण्ड न चमकनेवाले पिण्डों से पृथक् हो जाते हैं। छोटे-छोटे पिण्ड बड़े-बड़े पिण्डों के चारों ओर घूमने लगते हैं। तब हिरण्यगर्भ आकाशगंगा का रूप धारण कर लेता है।

आकाशगंगा का एक अति संक्षिप्त वर्णन वेद में इस प्रकार है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

(ऋ० १-१६४-२)

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥

(ऋ० १-१६४-३)

अर्थात्— (यह कहा जाता है कि यह नक्षत्रों के झुण्डों को) सात रथों को जोतते हैं। एक अश्व (घोड़ा) की भाँति ले जाने वाला चलता है जो गिनती में सात हैं तीन नाभियाँ (आश्रय स्थान) हैं। अभिप्राय है कि नक्षत्रमण्डल को स्थित करती हैं।

इस रथ-चक्र को सात अश्व चलाते हैं सात चक्रों में। ये सात चक्रों में ये सात अपने मार्गों पर अपने सामने को चलते हैं। निश्चित चलनेवाले हैं, सात नामों वाले हैं।

पंच महाभूत

यह बताया जा चुका है कि जगत् के सब पदार्थ आपः से बने हैं। आपः और मरुतों के बीच में परिमण्डल आते हैं। आपः का और इनसे बनने वाले मरुतों का पृथक् उल्लेख वेद में नहीं है, परन्तु ब्रह्मसूत्र में और वैशेषिक दर्शन में इनका उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र में तो केवल इतना कहा है कि ह्रस्व दीर्घों के चारों ओर परिमण्डलीय गति से घूमने लगते हैं। परिमण्डलीय गति है अण्डाकार, और वैशेषिक दर्शन में यह कहा है कि ये अर्थात् परिमण्डल मरुतों से अधिक स्थायी होते हैं।

मरुतों का वेदों में और वर्तमान विज्ञान में बहुत वर्णन है। परन्तु मरुतों के आगे अर्थात् मरुतों के झुण्डों को वर्तमान विज्ञान कुछ अधिक महत्त्व नहीं देता। वेद-विज्ञान मरुतों को पाँच श्रेणियों में बाँटता है। ये श्रेणियाँ इस आधार पर हैं कि मरुत् अपने झुण्ड बनाते हुए पाँच प्रकार के पदार्थ बनाते हैं। इनको वैदिक विज्ञान में पंच महाभूत कहते हैं। भूत नाम कदाचित् इस लिए दिया गया है कि यह अस्थायी रूप है। ये पाँच रूप ही हैं। इनके रूप तापक्रम में बदल जाते हैं।

इन महाभूतों के पाँच नाम हैं—१—आकाश, २—वायु, ३—अग्नि, ४—जल, ५—पृथिवी। इन नामों को अंग्रेजी भाषा में कहते हैं—१. आकाश—ईथर, २. वायु—गैसियस, ३. अग्नि—रेडियो ऐक्टिव, ४. जल—फ्लूइड्स, ५. पृथिवी—सोलिड्स।

ये पदार्थों की पाँच अवस्थाएँ कही जाती हैं।

इनके नाम आकाश, वायु इत्यादि वास्तव में पाँच प्रकार की मरुतों की अवस्थाएँ ही होती हैं। अतः इनके ठीक नाम ये होने चाहिएँ : १—आकाशीय, २—वायवी, ३—आग्नेय, ४—जलीय, ५—पार्थव।

कदाचित् संक्षेप में लिखने के लिए इनको आकाश-वायु इत्यादि लिखा जाता है। हम इनके प्रचलित नाम आकाश, वायु इत्यादि ही लिखेंगे।

ये मरुतों की अवस्थाएँ पृथिवी पर के तापक्रम पर निर्भर करती हैं। इसी कारण ये प्रायः पृथिवी के तापक्रम बढ़ने से पिघल जाते हैं। उदाहरण के रूप में बरफ का तापक्रम शून्य डिग्री सेंटीग्रेड से ऊँचा करने पर जल बन जाता है। इसी प्रकार तापक्रम बढ़ाने से मोम पिघलकर तरल हो जाती है। गंधक इत्यादि अनेक पदार्थ हैं जो पिघलकर तरल हो जाते हैं।

कुछ ऐसे भी हैं जो तरल होने से पहले तापक्रम के बढ़ने से विघटित हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में लकड़ी है। यह सामान्य तापक्रम पर ठोस होती है, परन्तु कुछ ही तापक्रम के बढ़ने पर जलने लगती है। जलती यह इस कारण है कि हवा की ऑक्सीजन से मिलकर विघटित हो जाती है।

पंच महाभूतों की ये अवस्थाएँ इनके कणों की अवस्था पर हैं। यह माना जाता है कि मरुत् कणों में एक गुण यह भी है कि ये अपने केन्द्रबिन्दु पर विकम्पित होते रहते हैं। अंग्रेजी भाषा में संक्षेप के लिए मरुत् कण (मोलिक्यूल पार्टिकल्स) को मोलिक्यूल ही लिखते हैं, अर्थात् सब पदार्थों के मरुत्कण (मोलिक्यूल्स) विकम्पित हो रहे हैं। विकम्पित होने के साथ ये भू-आकर्षण से परस्पर आकर्षित भी होते रहते हैं।

ज्यों-ज्यों कणों में अन्तर बढ़ता जाता है यह भू-आकर्षण कम होता जाता है। भू-आकर्षण का एक नियम है—

Two particles of matter attract each other with a force which is directly proportional to the product of their masses and indirectly proportional to the square of distance between them.

अर्थात्—वस्तु के दो कण (मरुत् कण) परस्पर शक्तिपूर्वक आकर्षित करते हैं जो सीधी उनके द्रव्यमान के गुणा के बराबर होती है और उनके अन्तर के प्रतिलेय के गुणा से कम होती है।

अतः मरुत्-कणों में अन्तर कम होने से वे दृढ़ता से परस्पर आकर्षित होते हैं। इस आकर्षण का गुर (फारमूला) इस प्रकार लिखा जाता है— $g = \frac{m_1 m_2}{d^2}$ जहाँ $g =$ भू-आकर्षण है। m_1 और m_2 कणों के द्रव्यमान हैं और d^2 कणों में अन्तर का सूचक हैं।

इस गुर (फार्मूला) से स्पष्ट है कि बड़े-बड़े मरुत्-कण (गुरुत्व वाले) अधिक दृढ़ता से परस्पर आकर्षित होंगे। साथ ही जिन मरुत्-कणों में अन्तर

न्यून होगा, वे अधिक दृढ़ता से आकर्षित होंगे।

मरुत् कणों में अन्तर तापक्रम के बढ़ने से बढ़ता है। यही कारण है कि तापक्रम बढ़ने से प्रायः पदार्थ पिघलकर ठोस से तरल और तरल से वायवी हो जाते हैं।

ठोस (पृथिवी) पदार्थ वे होंगे जिनके मरुत्-कणों में अन्तर कम होगा। वे तरल हो जाएँगे। जब उनका तापक्रम इतना अधिक हो जाएगा कि उनके मरुत्-कणों में अन्तर इतना अधिक हो जाता है कि वे परस्पर दृढ़ता से आकर्षित नहीं रहते। उनका आकर्षण ढीला पड़ जाता है और वे तरल अवस्था में हो जाते हैं। और अधिक तापक्रम बढ़ने से वे वायवी अवस्था में हो जाते हैं।

वायवी अवस्था में अणुओं का अन्तर इतना बढ़ जाता है कि उनका भू-आकर्षण उनको परस्पर इकट्ठे नहीं रख सकता। तब ये मरुत्-अणु स्वेच्छा से उड़ने लगते हैं।

यह वस्तुस्थिति है मरुत्-अणुओं की पृथिवी, वायु और जल की अवस्था में।

अग्नि और आकाश में अणुओं की स्थिति भू-आकर्षण अथवा अणुओं के परस्पर अन्तर से सम्बन्ध नहीं रखती। यह अणु में संयुक्त परिमण्डल की अपनी स्थिति पर निर्भर करती है। इसका सम्बन्ध मरुत्-अणुओं से न होकर परिमण्डलों से होता है।

आग्नेय (रेडियो ऐक्टिव) परिमण्डल स्वतः विघटित होते रहते हैं और उनमें के मित्र तथा वरुण निकलकर बाहर को बह रहे होते हैं। ये अपने पर विद्युत् आवेश रखते हैं। इस कारण ये शक्ति-कणों को बाहर फेंकने से आग्नेय अर्थात् अग्नि उगलनेवाले माने जाते हैं। इनको आग्नेय कहा जाता है।

आकाशीय (एथेरियल) परिमण्डलों के संयोग वे होते हैं जिनके परिमण्डल पर किसी प्रकार का शेष आवेश नहीं होता। इनमें गति नहीं होती और ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि किसी पार्थिव, जलीय अथवा वायवी पदार्थों के मरुत् कणों के बीच में भी आ जाते हैं।

वर्तमान विज्ञान में पाँच भौतिक अवस्था को कुछ अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता।

चतुर्दश अध्याय

पंच तन्मात्रा

जब प्रकृति के पदार्थ सूक्ष्म कणों से बड़े-बड़े कणों में बनने लगते हैं तो वे कई प्रकार की शक्तियों से परस्पर संयुक्त होते हैं। ये शक्तियाँ उन पदार्थों के कणों में उनमें गति से उत्पन्न होती हैं। ये शक्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। इनका नाम पंचतन्मात्रा है।

असाम्यावस्था में परमाणुओं पर तथा आपः इत्यादि कण पर आकर्षण-विकर्षण की शक्ति से तन्मात्रा भिन्न हैं।

इन पाँच के पृथक्-पृथक् नामों का वर्णन तो वैदिक ग्रन्थों में नहीं किया है। केवल इनकी उपस्थिति का वर्णन है, और कहा है कि इनके कारण प्रकृति के सूक्ष्म कणों में संयोग होकर स्थूल कण बनते हैं।

उन पाँच प्रकार की शक्तियों के नाम हैं—

१. जब आपः परस्पर आकर्षण-विकर्षण करते हैं जिनसे वे रज्जु गति में दीर्घों के चारों ओर घूमने लगते हैं तो जिस शक्ति से वे घूमते हैं उसे परिमण्डलीय अन्तःशक्ति कहते हैं। यह एक प्रकार की तन्मात्रा है।

२. जब परिमण्डल संयुक्त होकर मरुत् बनाते हैं तो जिस शक्ति से वे संयुक्त होते हैं, उसको रासायनिक शक्ति कहते हैं। यह दूसरी तन्मात्रा है।

३. जब मरुत् बनते हैं तो उनमें विकम्पन उत्पन्न हो जाता है। यह तीसरी प्रकार की तन्मात्रा है।

४. भू-आकर्षण चौथी प्रकार की तन्मात्रा है।

५. चुम्बकीय शक्ति पाँचवीं प्रकार की तन्मात्रा है।

यह तन्मात्रा की व्याख्या हमारी अपनी कल्पना है। सांख्य दर्शन में केवल इतना कहा है कि सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ बनने से पाँच प्रकार की तन्मात्राओं का ज्ञान होता है। वर्तमान विज्ञान में ये ही पाँच प्रकार की

शक्तियाँ हैं जिन से सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ बनते दिखाई देते हैं। ये शक्तियाँ इन्द्र की उपज ही हैं।

अभी तक हमने सृष्टि-रचना का एक संक्षिप्त वर्णन प्रकृति के परमाणु से लेकर स्थूल पदार्थों के बनने तक का किया है। परमाणु भार-रहित, अव्यक्त, अदृश्य, अविज्ञेय इत्यादि गुणों से स्मरण किया गया है। रचना-क्रम इन परमाणुओं से लेकर पृथिवी, सूर्य, तारागण के बनने तक लिख दिया है।

अब एक वैदिक शब्द की व्याख्या शेष है। प्रकृति से बने पदार्थों को दो श्रेणियों में कहा है—पदार्थ (सामान्य) और पदार्थ देवता।

देवता भी प्रकृति की उपज ही होते हैं। इनके विशेष दिव्य गुण होने से इनको देवता कहते हैं। ये अपने गुणों से प्रकाशित होते हैं, इस कारण देवता कहाते हैं। शब्द देवता दिव धातु से व्युत्पन्न है। दिव् का अर्थ है प्रकाशित होना।

वैशेषिक ने इन पदार्थ की गणना कराई है। ये बहुत हैं। हम सबों का वर्णन इस पुस्तक की सीमा देखकर नहीं कर सकते। कुछ-एक का ही वर्णन कर सकते हैं, वह भी संक्षेप में।

अग्नि, वैश्वानर अग्नि, इन्द्र, आपः, मित्र, वरुण, सोम और सूर्य के ही वर्णन यहाँ सम्भव हैं।

देवता अग्नि

अग्नि का अर्थ शक्ति तथा ऊर्जा है। यह दो प्रकार की पाई जाती है। एक अग्नि वह है जो सबसे पहले सृष्टि-रचना-कार्य आरम्भ करने के लिए प्रकट हुई। इसके कार्यों के अनुरूप इसके कई नाम कहे गए हैं। प्राण भी अग्नि है, जो 'आनीत् अवातम्' (ऋ० १०-१२९-२) में वर्णन की गई है। यह परमात्मा की शक्ति (सुषुप्ति अवस्था में) कही जाती है, जो हिलती-डुलती नहीं। इसको पूर्ण जगत् के निर्माण में मूल कारण माना जाता है।

यह सृष्टि-रचना के आरम्भ में सजग हो उठती है। ऋ० १०-१२९-३ और ऋ० १-१६३-१ में इसका वर्णन है। यह सब हम पूर्व-अध्यायों में लिख आए हैं कि रचना के पूर्व यह 'आनीत् अवातम्' के रूप में थी। रचना के समय यह अति महान् (ऋ०-१०-१२९-३) कहकर वर्णन की गई है। इसका अर्थ भी हम पूर्व के अध्यायों में दे आए हैं। यह अग्नि आदि-अनन्त परमात्मा का स्वरूप ही मानी जाती है। इसके सामान्य गुण ऋग्वेद में सबसे पहले कहे गए हैं। वह हम इस स्थान पर दे रहे हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का प्रथम मंत्र ही इस प्रकार आरम्भ होता है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(१-१-१)

अर्थात्—यज्ञ (रचना) के समय समक्ष उपस्थित यज्ञ का होता रत्न (अद्‌भुत पदार्थ) देनेवाले अग्निदेव की मैं स्तुति (अर्थात् गुण-कर्म-स्वभाव का चिन्तन) करता हूँ।

यहाँ मंत्र का प्रवक्ता ऋषि कह रहा है कि मैं इस सूक्त में अग्नि के कुछ गुणों का वर्णन करने लगा हूँ। उसने बताया है कि यह अग्नि सृष्टि-रचना के समय पहले ही उपस्थित थी और वह सृष्टि के सब भिन्न-भिन्न पदार्थों को बनानेवाली है।

इस सूक्त का अगला मंत्र इस प्रकार है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति ॥

(ऋ० १-१-२)

अर्थात्—यह अग्नि पूर्व (कल्प) के ऋषियों को विदित थी और इस (कल्प) के ऋषियों को भी विदित है। यह सब देवताओं (यहाँ भू-मण्डल के देवताओं) को प्राप्त होती है।

अभिप्राय यह है कि यह अग्नि देवताओं को बनाने में योगदान देती है।

सूक्त का अगला मंत्र इस प्रकार है—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥

(ऋ० १-१-३)

अर्थात्—यह अग्नि दिनानुदिन पालन करनेवाली और वीरता को देने वाली है। और यश प्राप्त करानेवाली है।

इसका अभिप्राय है कि मनुष्य को यश और वीरता इस आदि-अग्नि में आवेश से प्राप्त होती है। अन्य कार्य—चलना-फिरना, उठना-बैठना, देखना-सुनना इत्यादि कर्म तो मनुष्य करता है; उनको करानेवाली दूसरी अग्नि है। उसका वर्णन हम इन्द्र देवता के अध्याय में करेंगे।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति ॥

(ऋ० १-१-४)

अर्थात्—जिस दोषरहित यज्ञ को सब स्थान पर तुम (अग्नि) कर रही हो, वह यज्ञ देवताओं में जाता है (अर्थात् वही निर्माण-कार्य देवता आगे चलाते हैं)।

ऊपर दूसरे मंत्र में कहा था कि इस आदि-अग्नि के द्वारा देवता बनते हैं। यहाँ उससे भिन्न बात कही है कि ये देवता रचना-कार्य ही को और आगे चला रहे हैं।

इसमें समझने की बात यह है कि देवता बनते तो इस अग्नि से हैं, उनकी कार्य करने की सामर्थ्य परमाणु के अन्तर्गत इन्द्र से आती है। परन्तु उनका कार्य वही है जो इस अग्नि का है।

सूक्त का अगला मंत्र है—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत् ॥

(ऋ० १-१-५)

इस अग्नि का स्वामी विद्वान् परमात्मा का ही यज्ञ कर रहा है। वह सदैव सत्य अर्थात् सदा रहनेवाला है।

सूक्त का अगला मंत्र इस प्रकार है—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः॥

(ऋ० १-१-६)

अर्थात्—यही अग्नि मनुष्य के अंग-अंग में है। वहाँ यह सदा रहनेवाली (सत्य) है।

मनुष्य-शरीर में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। एक इन्द्रियों में है। यह सदा सत्य अर्थात् निरन्तर कार्य करनेवाली नहीं। उसके अतिरिक्त यह अग्नि है जो मनुष्य-शरीर में सदा कार्य करती रहती है—हृदय, आंत्र इत्यादि में। यह दूसरी अग्नि भी आदि-अग्नि है। यह जीवन-भर कार्य करती रहती है। इसके कर्म को पंच वायु कहते हैं। ये हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान।

सूक्त का अगला मंत्र है—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥

(ऋ० १-१-७)

अर्थात्—हर रात-दिन तुमको (इस आदि-अग्नि को) नमस्कार करते हुए तुम्हारी शरण में आते हैं।

रचना-कार्य में हो रहे यज्ञों की रक्षा करनेवाले ऋतों (प्राकृत नियमों) का प्रकाश करनेवाली है। इस प्रकार तुम अपने गृह (स्वर्गधाम) में वृद्धि करनेवाले हो। इसका अभिप्राय यह है कि इस अग्नि के आश्रय ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥

(ऋ० १-१-९)

अर्थात्—हे अग्निस्वरूप परमात्मा! अपनी सन्तान की भाँति हमको सुलभ होवो। हमको कल्याण से युक्त करो।

इस सूक्त में इस अग्नि के कुछ गुणों का वर्णन किया है। वे गुण हैं—

१. यह सृष्टि के सब पदार्थ बनाती है। सृष्टि-रचना से पहले यह अग्नि ही विद्यमान होती है।

२. इसकी (अग्नि की) पूर्व-कल्प के ऋषि और इस कल्प के भी ऋषि स्तुति करते हैं।
३. यह मनुष्य में बल और यश देती है।
४. यह देवताओं के निर्माण में योगदान देती है।
५. ये (देवता) सृष्टि-रचना-कार्यों को चालू रखते हैं, अर्थात् यही अग्नि वैश्वानर अग्नि है।
६. प्राणी का जीवन इसी अग्नि पर निर्भर करता है। यह शरीर में पंच वायु उत्पन्न करती है—प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान।
७. ऋत (प्राकृत नियमों) को यह अग्नि बनाती है और रक्षा करती है।
८. माता-पिता की भाँति यह अग्नि प्राणी की रक्षा और पालन करती है।
९. यह प्राणी को सुगमता से मिल जाती है।

वैदिक भाषा में अग्नि शब्द पुल्लिग है। हिन्दी भाषा में यह दोनों पुल्लिग और स्त्रीलिंग में प्रयोग होता है। अग्नि के ऊपर लिखे गुणों में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि मनुष्य को यश और शौर्य इस अग्नि के प्रभाव से प्राप्त होता है, और दूसरे यह कि प्राणी के जीवन में इस अग्नि का विशेष योगदान है।

इनके विषय में इतना समझ लेना चाहिए कि मनुष्य का शारीरिक परिश्रम करने का सामर्थ्य, और मानयुक्त स्थिति में अपने उद्देश्य पर दृढ़ रहना, दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। परिश्रम करने का सामर्थ्य शरीर का धर्म है और उसकी शक्ति इन्द्र की शक्ति है। परन्तु कष्ट को सहन करना इस शक्ति (जो परमात्मा की है) का कार्य है। इसी कारण क़भी-कभी एक शरीर से दुर्बल व्यक्ति भी भययुक्त स्थिति में धैर्य रखने का सामर्थ्य रखता देखा जाता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों की शक्ति के ह्रास और वृद्धि के अतिरिक्त एक शक्ति है जो प्राणी को जीवन देने का सामर्थ्य रखती है। यह वह शक्ति है जो हृदय की गति, मस्तिष्क की शिराओं की शक्ति और आँतों इत्यादि में कार्य करती है। ये प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान वायुओं से जीवन दान देती हैं। यह शक्ति भी इसी आदि-अग्नि का कार्य है।

इसका उदाहरण किसी भूख-हड़ताल करते हुए मनुष्य के जीवन-कार्य करने का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है। शरीर की इन्द्रियाँ तो शीघ्र ही शिथिल हो जाती हैं, परन्तु हृदय की गति इत्यादि साठ-साठ और सत्तर-सत्तर दिन तक जीवन चलाती रहती है। इससे मनुष्य जीवित रहता है।

जब तक भोजन न करने से शारीरिक यंत्र के वे अंग जिनमें ये वायुएँ कार्य कर रही होती हैं, निष्क्रिय नहीं हो जाते तब तक ये भीतरी प्राण कार्य करते हैं।

अंगों की शक्ति अंगिरस, इन्द्र की शक्ति से सम्बन्ध रखती है। परन्तु उन अंगों में गति उत्पन्न करनेवाली वायु तब तक वहाँ रहती है, जब तक वे अंग सर्वथा निष्क्रिय नहीं हो जाते, अर्थात् उन अंगों की शक्ति बनी रहती है। जहाँ इन्द्रियाँ और शरीर की पेशियाँ कुछ घंटे काम करने पर थक जाती हैं, वहाँ हृदय, आँतों, शिराओं इत्यादि की शक्ति बिना एक क्षण का विश्राम किए कार्य करती रहती है। ये परमात्मा की शक्ति से कार्य करते कहे गए हैं।

यह आदि-अग्नि ही इन्द्र की उत्पत्ति में समर्थ है। प्रकृति के दो रूप हैं—एक साम्यावस्था और दूसरी असाम्यावस्था। दोनों में अन्तर हमने पूर्व के अध्यायों में बताया है। साम्यावस्था में सत्त्व, रजस् और तमस् की तीन शक्तियाँ परमाणु के भीतर ही संतुलित अवस्था में होती हैं। इसे इन शक्तियों की साम्यावस्था कहा जाता है।

ये सत्त्व , रजस् और तमस् की शक्तियाँ परमाणु के भीतर संतुलित होने की अपेक्षा बहिर्मुख इस आदि-अग्नि के प्रभाव से ही हो सकती हैं। विश्व में अन्य कोई शक्ति नहीं, जो इन शक्तियों को अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी कर सके। दूसरे शब्दों में, परमाणु में से इन्द्र को बहिर्मुख कर कार्यरत करने का सामर्थ्य इस आदि-अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है।

सांख्य दर्शन में यह कहा है—

निजमुक्तस्य बंधध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ (सां० १-८६)

अर्थात्—प्रकृति का बन्ध की अवस्था से मुक्त अवस्था में होना परम साधन (सिद्ध करना) अति कठिन है।

इसको परमात्मा की शक्ति अग्नि ही कर सकती है। इसका अभिप्राय है कि जगत्-रचना का कार्य यह आदि-अग्नि ही कर सकती है।

अग्नि के इस कार्य के परिणामस्वरूप ही मित्र, वरुण और अर्यमा की उत्पत्ति होती है। वेद में इसका कथन है।

इस अग्नि का एक अन्य कार्य है। वह हम वैश्वानर अग्नि के अध्याय में भी बता चुके हैं। वह यह कि जब तक जगत् बना रहता है यह अग्नि परमाणु पर लगाम की भाँति सवार रहती है। यह तब ही परमाणुओं पर से हटती है जब प्रलय-काल आता है। ऋग्वेद में इसका इस प्रकार वर्णन किया है—

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥

(ऋ० १-९८-२)

इसका अभिप्राय है कि वैश्वानर अग्नि जगत् की प्रत्येक वस्तु की पीठ पर सवार रहती है।

यह तब तक सवार रहती है जब तक रचना रहती है।

इन्द्र

जिस अग्नि का हमने इससे पूर्व के अध्याय में वर्णन किया है, उससे परमाणु-अन्तर्गत त्रिगुणात्मक शक्तियाँ जब बहिर्मुख होती हैं तब ये शक्तियाँ ही इन्द्र कहलाती हैं। इसका वर्णन ऋग्वेद में किया है। मंत्र इस प्रकार है—

यमेनं दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥

(ऋ० १-१६३-२)

अर्थात्—नियंत्रणकर्त्ता परमात्मा ने आदि अग्नि को दिया और वह त्रित (परमाणु) पर लगाम की भाँति सवार हो गई। पूर्व में इसमें इन्द्र सवार था। अब परमाणु ने अग्नि को स्वीकार कर लिया।

इन्द्र ने बहिर्मुख होकर क्या किया, यह निम्न मंत्रों में वर्णन किया है—

प्र सु ज्येष्ठं निचिराभ्यां बृहन्नमो
हव्यं मतिं भरता मृळयद्भ्यां स्वादिष्ठं मृळयद्भ्याम्।
ता सम्राजा घृतासुती यज्ञेयज्ञ उपस्तुता।
अथैनोः क्षत्रं न कुतश्चनाधृषे देवत्वं नू चिदाधृषे॥

(ऋ० १-१३६-१)

अर्थात्—बहुत बड़ी मात्रा में अन्न (साम्यावस्था में प्रकृति) आदि-अग्नि को मिलने पर ये मित्र और वरुण महान् शक्तिशाली बने। पूर्ण जगत् के पदार्थ बनाने में सामर्थ्य बने हुए ये दोनों तीसरे अर्यमा पर आरूढ़ हो गये। उस पर अधिकार कर सृष्टि-रचना करने लगे।

इसका अभिप्राय है कि आदि-अग्नि के प्रभाव से जब इन्द्र बहिर्मुख हुआ तो तीन निबन्धन बने—मित्र, वरुण और अर्यमा।

इनमें से मित्र और वरुण आवेशयुक्त होते हैं और इन्द्र के सब काम ये निबन्धन करते हैं। इनके विषय में इसी सूक्त का अगला मंत्र इस प्रकार है—

अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था
ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः।
द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वय उपस्तुत्यं बृहद्वयः॥

(ऋ० १-१३६-२)

अर्थात्—प्राकृत नियमों का पालन करती हुई प्रकृति की दो सन्तान (मित्र और वरुण) चमकने लगीं और दिखाई देने लगीं। यह उनमें उपस्थित अग्नि (ऊर्जा) के कारण था।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि यह चमकने की क्रिया हिरण्यगर्भ की अवस्था में की घटना है। इसी कारण हिरण्यगर्भ चमकने लगता है और दूरबीन से ये चमकते बादल दिखाई देते हैं। यह चमक-दमक असाम्यावस्था में प्रकृति के परमाणुओं के परस्पर राग-विराग के कारण होती है।

मंत्र में आगे कहा है कि यह अन्तरिक्ष में होता है। वहाँ मित्र, वरुण और अर्यमा तीनों ठहरे रहते हैं। मित्र और वरुण निरन्तर प्रकृति से बन रहे होते हैं। प्रकृति का बहुत बड़ा भण्डार वहाँ होता है।

परमाणुओं में इस राग-विराग (आकर्षण-विकर्षण) से क्या होता है? यह अगले मंत्र में कहा है—

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं
स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे।
ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती।
मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः।

(ऋ० १-१३६-३)

अर्थात्—दो शक्तिशाली (मित्र और वरुण) दिनानुदिन निरन्तर परमाणुओं को आत्मसात् कर रहे होते हैं। वे अग्नि से परमाणुओं के समावेश से उत्पन्न किए जा रहे होते हैं। यह साम्यावस्था में प्रकृति से अग्नि से बनाई जा रही होती है। दोनों (मित्र और वरुण) जो कुछ प्राप्त होता है, उससे सृष्टि-रचना का कार्य करने लगते हैं। यह रचना का प्रथम पग है।

इस समय तक अग्नि वैश्वानर का रूप बनकर परमाणुओं पर सवार हो गई होती है और इस कारण जो भी कार्य होता है वह लौटता नहीं।

आपः के कर्म से परिमण्डल बनते हैं और परिमण्डलों से मरुत् बनते हैं। परिमण्डलों के बनने की प्रक्रिया हम पुस्तक के षष्ठ अध्याय में वर्णन कर आए हैं। परिमण्डल के विषय में हम लिख आए हैं कि इनके आइसोटोप्स भी बनते हैं। उनके बनने की प्रक्रिया भी उसी अध्याय में लिखी है।

इसका परिणाम यह होता है कि कई परिमण्डल ऐसे मिलते हैं जिनके रासायनिक गुण तो समान हैं, परन्तु अणु-भार भिन्न-भिन्न हैं।

अणु के रासायनिक गुण तो परिमण्डल में सजग मित्र और वरुण पर निर्भर होते हैं, परन्तु परिमण्डल का द्रव्यमान मुख्यतः अर्यमा आपः पर निर्भर करता है। यह हमने षष्ठ अध्याय में ऋग्वेद १-३२-११ के प्रमाण से बताया है।

ऐसे परिमण्डलों के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

नाम	द्रव्यमान
कार्बन	१४,१२
नाइट्रोजन	१५, १४
टंगस्टन	१८३, १८२, १८०

इसी प्रकार कई परिमण्डलों के रासायनिक गुण समान होते हुए भी उनके द्रव्यमान में अन्तर आ जाता है।

वेद में तो इनके इस प्रकार बनने की प्रक्रिया ही लिखी है। यह हम षष्ठ अध्याय में वर्णन कर आए हैं।

रचना-कार्य में परिमण्डलों से मरुत् बनता है। इनके बनने की प्रक्रिया भी हम इसी पुस्तक के अष्टम अध्याय और नवम अध्याय में वर्णन कर आए हैं। मरुतों के विषय में कुछ अधिक वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

मित्र, वरुण, सोम

यह हमने अध्याय-संख्या षोडश में बताया है कि इन्द्र जब परमाणु से बाहर को देखता है तो (ऋ० १-६-१, २) यह परमाणु के साथ रथ के दो घोड़ों की भाँति जुत जाता है। ये दो घोड़े इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति में से दो—सत्त्व और रजस् हैं। ये शक्तियाँ परमाणु के साथ दृढ़ता से संयुक्त हैं। परमाणु की अन्तरिक्ष यात्रा में परमाणुओं के संयोग बनने लगते हैं।

ये संयोग अणु कहाते हैं। संयोग आपः कहे जाते हैं और ये तीन प्रकार के हैं। इन आपः में से, जिस पर धन (+) विद्युत् का आवेश शेष होता है वह वरुण कहलाता है। जिस पर ऋण (-) आवेश शेष होता है वह मित्र कहलाता है। और तीसरी प्रकार के आपः जो आवेश-रहित बनते हैं वे अर्यमा कहाते हैं। यह हमने षोडश अध्याय में बताया है। यह ऋग्वेद १-१३६-१, २, ३ में वर्णन किया है। इन में से दो वरुण और मित्र हैं जो वर्तमान विज्ञान में प्रोटोन और इलेक्ट्रॉन कहे जाते हैं, अर्यमा तीसरी प्रकार के आपः हैं जो आवेश-रहित होते हैं, और निष्क्रिय होते हैं। इनके बनने की प्रक्रिया हमने इस पुस्तक के पंचम अध्याय में वर्णन की है और वहाँ चित्रद्वारा बताया है कि किस प्रकार परमाणु संयुक्त होकर तीन प्रकार के आवेशों वाले (धन, ऋण और शून्य) बन जाते हैं।

शून्य आवेश वाले आपः सोम कहे जाते हैं। निम्न मंत्र में इसका वर्णन किया गया है—

अयं मित्राय वरुणाय शंतमः
सोमो भूत्ववपानेष्वाभगो देवो देवेष्वाभगः।
तं देवासो जुषेरत विश्वे अद्य सजोषसः।
तथा राजाना करथो यदीमह ऋतावाना यदीमहे ॥

(ऋ० १-१३६-४)

अर्थ है—मित्र और वरुण के लिए अत्यन्त शान्त आपः अत्यन्त

सहायक होता है। मित्र और वरुण प्रकृति से बने दो बलयुक्त आपः हैं। सोम अति भाग्यशाली हो जाता है। मित्र और वरुण के लिए अन्य देवता भी अपने कार्य में सोम से सहायता लेते हैं।

जिसे इस मंत्र में सोम कहा है उसी को पूर्व-मंत्रों (ऋ० १-१३६-१, २, ३) में अर्यमा का नाम दिया गया है। अर्यमा ही इस मंत्र में सोम कहा गया है। यह नाम अर्यमा इसके सौम्य, अत्यन्त शांत गुण के कारण ही है।

यह कहा है कि सोम मित्र और वरुण के लिए और अन्य देवताओं के लिए भी बहुत सहायक होते हैं।

सोम की इस सहायता के लिए ही इसे देवता कहा गया है।

सोम के विषय में आरम्भ में ही एक मंत्र है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥

(ऋ० १-२-१)

अर्थात्—वायु को सोमों की रक्षा करनी चाहिए, जो (पदार्थों में) बहुत सुन्दरता से सजाए गये हैं।

यह हम बता चुके हैं कि आपः सब पदार्थों में ईंटों की भाँति चुने होते हैं। यहाँ कहा है कि वे अपने स्थान पर वायु से रक्षित होते हैं। वायु गति है जो मित्र और वरुण घोड़े बनकर परमाणुओं में उत्पन्न करते हैं। यह वायु (गति) मातरिश्वा भी कही जाती है।

यह हम बता चुके हैं कि परिमण्डल के मध्य में आवेश-रहित आपः वरुणों और मित्रों से घिरे होते हैं। यह भी बताया है विक मध्य में वरुण ही परिमण्डल (ऐटम) का मुख्य भार बनाते हैं। यह वर्तमान विज्ञान में पता किया गया है कि एक परिमण्डल में मित्रों के भार से १५०० गुणा अधिक सोमों और वरुणों का भार होता है। अर्थात् एक परिमण्डल में मुख्य भार सोमों के कारण ही होता है। एक परिमण्डल में सोमों की संख्या बहुत अधिक होती है। वरुण और मित्र तो संख्या में बहुत कम होते हैं।

परिणाम स्वरूप यह कहा जाता है कि जहाँ परिमण्डल और मरुत किसी पदार्थ को बनाते हैं तो उस पदार्थ के भार में सोमों का भार ही मुख्य होता है।

इस कारण इस मंत्र (ऋ० १-२-१) में कहा है कि यही सोम सजाकर

रखे गये हैं। वहाँ वायु उनकी रक्षा करे।

वायु तो गति है जो मित्र और वरुण के आकर्षण-विकर्षण से उत्पन्न होती है। अतः यहाँ मंत्र में यह कहा है कि किसी पदार्थ में जब परिमण्डल सजाकर स्थिर किए गए हैं, उनको अपने स्थान से हटाएँ नहीं।

इस सब का अभिप्राय यह है कि सोम ही पदार्थों में मुख्य भार को बनाते हैं और मित्र तथा वरुण सोमों की पदार्थों में रक्षा करें।

इस मंत्र (ऋ० १-२-१) में सोम बहुवचन में आया है। परन्तु पदार्थ में परिमण्डल या तो दो अथवा अधिक के संयोग में आते हैं। परिमण्डल पर शेष आवेश होता है। इस कारण वे अकेले नहीं रह सकते। अतः एक ही प्रकार के परमाणुओं का संयोग अथवा विभिन्न प्रकार के परमाणुओं के संयोग ही पदार्थ के ढेले बनाते हैं। इन संयोगों को मरुत कहते हैं, और मरुत् में शक्ति गर्भस्थ हुई होती है।

पदार्थ मरुतों के समूह होते हैं। मरुत के समूह मरुत्-गण कहाते हैं।

एक ही प्रकार के अणु किसी वस्तु में जब होते हैं तो समूह कहाते हैं। इसी कारण ऋ० १-२-१ में सोम बहुवचन में आया है।

सोम के विषय में प्रायः वेद के भाष्यकारों में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि ये किसी प्रकार के क्षुप के पत्ते होते हैं और इसके स्वरस को पीकर इन्द्र मस्त और हिंसक हो जाते हैं।

हम समझते हैं कि यह वेद को न समझने के कारण है। सोम, अर्यमा आपः का नाम है, क्योंकि अर्यमा आवेश-रहित होता है। इस कारण अपने शान्त स्वभाव के कारण यह सोम कहाता है।*

---

* सोम के विषय में और अधिक जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक "वेदों में सोम" पढ़नी चाहिए। लेखक ने वहाँ यह सिद्ध किया है कि चारों वेदों में सोम के ये ही अर्थ हैं। तीसरी प्रकार का आपः, जो आवेश-रहित होता है और जिसका दूसरा नाम अर्यमा है, सोम कहा जाता है।

उद्देश्य और उसकी प्राप्ति

पुस्तक की कल्पना उत्पन्न हुई थी महर्षि स्वामी दयानन्द जी के इस कथन को पढ़ने पर कि ऋग्वेद जगत् के पदार्थ की स्तुति है, अर्थात् उसमें पदार्थ के गुण, कर्म और स्वभाव का कथन है। विज्ञान का स्नातक होने से इस कथन की परीक्षा करनी स्वाभाविक ही थी। इस परीक्षा में यास्क के वेद शब्द के निर्वचन करने में वर्णित सिद्धान्त ने बहुत दूर तक सहायता की है। भारत के मध्यकालीन वेद-विद्वान् और यूरोपीय विद्वान् या तो निरुक्त की वेदार्थ करने की शैली को समझे ही नहीं, अथवा समझे हैं तो उसके प्रयोग की योग्यता न रखने से उन अर्थों तक नहीं पहुँच सके जिनका हमें भास हुआ है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि भारत का मध्य-काल कब से आरम्भ होता है और उससे पहले के प्रमाण कहाँ हैं? इसमें हमारा मत है कि भारत में ज्ञान-रूपी सूर्य के अस्त होने का काल महाभारत-काल से लगभग तीन चार सहस्र वर्ष पहले से आरम्भ होता है। इस काल से पहले के ग्रन्थों में वह विभ्रम प्रतीत नहीं होता। महाभारत के कुछ पहले से लेकर स्वामी दयानन्द जी और योगिराज अरविन्द के काल तक भारत में ज्ञान-सम्बन्धी अन्धकार ही छाया रहा है।

उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थ तथा इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय ज्ञान का संध्याकाल आरम्भ हो गया था। उपनिषदादि ग्रन्थों में वेदमार्तण्ड का सायंकालीन धुँधला प्रकाश ही रह गया था। यही धुंधला प्रकाश महाभारत में भी मिलता है। महाभारत के प्रवक्ता महर्षि व्यास, पराशरनन्दन अपने काल के विद्वानों से बहुत आगे निकले हुए थे। उनके दो ग्रन्थ भगवद्गीता और शान्ति पर्व में वेद-सम्बन्धी विचार उस काल के विद्वानों से अति उन्नत और वेद के समीप प्रतीत होते हैं।

वैसे उस काल के ब्राह्मण वर्ण के लोग किसी प्रकार के ज्ञान से प्रकाशित प्रतीत नहीं होते। महाभारत-काल के बाद तो भारत वेद-ज्ञान से दूर और दूर होता हुआ प्रतीत होता है। महाभारत-काल और महात्मा बुद्ध के काल तक लगभग १,४०० वर्ष में भारत बहुत-कुछ वेदज्ञान से पृथक् हो चुका था। बुद्ध धर्म का यौवन-काल महाभारत से अठारह-उन्नीस सौ वर्ष उपरान्त से आरम्भ होकर महाभारत के अट्ठाईस-उनतीस सौ वर्ष बाद तक रहा है और फिर बौद्धधर्म का भारत में ह्रास आरम्भ होकर पौराणिक काल का आरम्भ माना जाता है। इस समय स्वामी शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट इत्यादि बौद्ध धर्म का खण्डन करने लगे थे। इनके खण्डन का आधार वेद नहीं था। इन्होंने अपने प्रचार की आधारशिला ब्राह्मणग्रन्थ इत्यादि बनाए। इस कारण हमारे विचार में वेद का वास्तविक रूप प्रकट नहीं हो सका। ब्राह्मण, उपनिषद् आंशिक रूप में वेदमत का प्रकाश करते हैं।

यह तो ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द जी का अवतरण हुआ तो वेद-सम्बन्धी मध्यकालीन दृष्टि बदलने लगी है।

योगिराज अरविन्द स्वामी दयानन्द के बाद हुए हैं। उनके विचारों पर महर्षि स्वामी दयानन्द के विचारों का कितना प्रभाव हुआ था कहा नहीं जा सकता। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने भी सायणादि भाष्यकारों को अस्वीकार ही किया है। भारत का वेदज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान का नया युग हम स्वामी दयानन्द से आरम्भ मानते हैं। श्री सातवलेकर और अन्य आर्यसमाजी लेखकों ने विस्तार से वेद को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। हमारा तो इस क्षेत्र में सीमित-सा ही प्रयास है। हम मध्यकालीन युग की समाप्ति हो रही समझते हैं और यहाँ से नए युग का आरम्भ हो रहा अनुभव करते हैं।

मध्यकाल से पहले के दर्शनशास्त्र ही उपलब्ध हुए हैं। इनमें ब्रह्मसूत्र, सांख्य और न्याय दर्शन स्पष्ट रूप में वेद-मत को स्वीकार करते हैं।

यद्यपि स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों को उपनिषदादि ग्रन्थों की व्याख्या में माना है, इससे सूत्र के भाव को विकृत करने में योगदान मिला है, परन्तु हम समझते हैं कि उपनिषदों को पृथक् रखकर वेद-ज्ञाता ब्रह्मसूत्र को पढ़ेंगे तो उनको स्पष्ट विदित हो जाएगा कि ब्रह्मसूत्र उपनिषदों से बहुत आगे वेद-ज्ञान

की ओर चला गया है। पाठक हमारे ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसके प्रमाण पाएँगे कि स्वामी शंकराचार्य इत्यादि भाष्यकार भूल कर रहे थे, जो ब्रह्मसूत्रों को उपनिषदादि मध्यकालीन ग्रन्थों में सम्मिलित कर रहे थे।

हमारा विचार है कि ब्रह्मसूत्र रामायण के काल के कुछ ही पीछे लिखा गया ग्रन्थ है। न्याय दर्शन भी इसी काल का ग्रन्थ है। सांख्य तो इन दोनों से बहुत पुराना प्रतीत होता है।

ऐसा समझ में आता है कि स्वामी शंकराचार्य दर्शनशास्त्रों को समझ ही नहीं सके। ब्रह्मसूत्रों को तो वे उपनिषदों की व्याख्या में लिखा ग्रन्थ मानते हैं और सांख्य के प्रवक्ता कपिल मुनि को बुद्धिविहीन मानते हैं। हम यह समझे हैं कि स्वामी शंकराचार्य सांख्यादि दर्शनशास्त्रों के तो ज्ञाता थे ही नहीं और ब्रह्मसूत्रों को वह उपनिषदों की व्याख्यास्वरूप मानकर कुछ गलत भाष्य कर गए हैं।

यहाँ एक बात हम बता देना चाहते हैं कि कुछ विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र के प्रवक्ता, उसी व्यास को माना है जिन्होंने महाभारत लिखा था। हमारा इनसे मतभेद है। ब्रह्मसूत्र लिखनेवाले व्यास महाभारत लिखनेवाले नहीं थे। वे कोई दूसरे हैं।

इन तीनों दर्शनशास्त्रों को ब्राह्मणादि ग्रन्थों से स्वतन्त्र होकर पढ़ें तो पता चलेगा कि वे ठीक-ठीक वेद-मत का प्रदर्शन करते हैं।

हम दर्शनशास्त्रों को वेदों के उपांग मानते हैं। उपांग शरीर के आत्मा को आश्रय देते हैं। ज्ञानरूपी शरीर का आत्मा वेद है और ये दर्शनशास्त्र वेद का समर्थन करते हैं।

इस धारणा के अनुरूप ही हम अपनी यह लघु-पुस्तिका "सायंस और वेद" की रचना कर रहे हैं। इस पुस्तक के लिखने के समय हमारे अध्ययन का यह निष्कर्ष है कि वेद ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ हैं। इनमें तीनों अक्षरों और उन अक्षरों से बने कार्यजगत् का विस्तृत वर्णन है। साथ ही वेद में इस कार्यजगत् के और मनुष्य के विषय में भरपूर वर्णन है।

ज्ञान को वर्तमान संस्कृत भाषा में अध्यात्म माना जाता है, और विज्ञान संसार का ज्ञान माना जाता है। इन दोनों का वेद में वर्णन है। हमारी पुस्तक का विषय सांसारिक ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध रखता है।

सृष्टि कहाँ से बनी, कैसे बनी और उसका वर्तमान रूप क्या है? यह सायस का विषय है। हम समझते हैं कि वेद वर्तमान युग की सायंस से बहुत अधिक (यद्यपि सिद्धान्त रूप में) बताता है।

□□□

प्रमाणानामनुक्रमणिका

ISBN 81-88388-58-0



श्री गुरुदत्त

(1894 - 1989)

शिक्षा : एम. एस-सी.

प्रथम उपन्यास "स्वाधीनता के पथ पर" से ही ख्याति की सीढ़ियों पर जो चढ़ने लगे कि फिर रुके नहीं।

विज्ञान की पृष्ठिभूमि पर वेद, उपनिषद् दर्शन इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया तो उनको ज्ञान का अथाह सागर देख उसी में रम गये।

उपन्यासों में भी शास्त्रों का निचोड़ तो मिलता ही है, रोचकता के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उनका कोई भी उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना छोड़ा नहीं जा सकता।

वेद, उपनिषद् तथा दर्शन शास्त्रों की विवेचना एवं अध्ययन अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करना गुरुदत्त की ही विशेषता है।



हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर्स,10/54 डी. बी. गुप्ता रोड,

करोल बाग, नई दिल्ली 110005

Email : indiabooks@rediffmail.com